5759

DONATION

ॐ

भाष्यकार दयानन्द

BHASHYAKAR--DAYANAND

ACC No. 5759

डॉ० मनुदेव बन्धु

व्याकरणाचार्य, एम०ए०, पी-एच०डी०, गोल्डमेडलिष्ट

अनुकरणीय व्यक्तित्व

जिस क्षण देह में दुर्बलता प्रतीत हो, उसी क्षण एक महान् विशालकाय गुजराती का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे मन में शिथिलता कायरता का प्रवेश हो, उसी क्षण जीवन और उत्साह से ओत-प्रोत जस्वी देशभक्त का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे हृदय में मोह विलास का साम्राज्य प्रवर्तित हो, उसी क्षण धन को ठोकर मारने नैष्ठिक ब्रह्मचारी की ओर दृष्टि करो। अपमान से आहत होकर स क्षण तुम नजर ऊँची ना उठा सको, उसी क्षण हिमालय के समान अ... और उन्नत व्यक्ति के ओजस्वी मुख को अपनी कल्पना में उपस्थित करो। मृत्यु वरण करते हुए डर लगे तो इस निर्भयता की मूर्ति का ध्यान करो। द्वेष भाव से वियुक्त होकर जब तुम्हें अपने विरोधी को क्षमा करने में हिचकिचाहट हो तो उसी क्षण विष पिलाने वाले को आशीर्वाद देते हुए एक राग-द्वेष वियुक्त संन्यासी को याद करो। यह गुजराती व्यक्ति **महर्षि दयानन्द सरस्वती** है।

भाष्यकार दयानन्द

BHASHYAKAR--DAYANAND

डॉ० मनुदेव बन्धु

एम०ए०, पी-एच० डी०

अभिशंसा

डॉ० मनुदेव बन्धु प्रणीतं "भाष्यकार–दयानन्द" इत्याख्यं पुस्तक माद्योपान्तं पठितं मयका। महर्षिदयानन्द–पूर्ववर्त्ति–विविध–भाष्यकाराणां मतानि समालोच्य दयानन्दकृतं सर्वोपरि इति प्रतिष्ठापितं बन्धु–महाभागेन। वेदेषु हिंसाऽस्ति इत्येकः पक्षः, वेदेषु हिंसा नास्तीति अपरः पक्षः। अपरं पक्ष साधु परिपोषितं महाविदुषा। महर्षिदयानन्दस्य भाष्यं सुधारवादी परम्परायां विद्यते। भाष्यकार–दयानन्दस्य महतीच्छाऽऽसीत् यन्मदीयवेदभाष्येण संसारस्य कल्याणं भवेत्। वेदस्य महनीयतां प्रतिपादयन् दयानन्द आर्यसमाजस्य तृतीये नियमेऽलिखत्–वेदः सर्वसत्य–विद्यानां पुस्तकमस्ति, वेदस्य पठनं–पाठनं श्रवणं–श्रावणञ्च समेषामार्याणां परमं कर्त्तव्यं वर्त्तते।

दयानन्द–वेदभाष्यावगमनाय सम्यक् परिज्ञानाय च "भाष्यकार दयानन्द" नामधेयं पुस्तकमवश्यं पठनीयम्। पुस्तकप्रणयने कृतभूरिपरिश्रमोऽसौ लेखकः। अतोऽहं बहून् साधुवादान् वितरामि लेखकाय।

—आचार्यप्रियव्रतो वेदवाचस्पतिः
पूर्व कुलपतिः, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

अपील

"बन्धु साहित्य प्रकाशन" वैदिक साहित्य, समाज, दर्शन, संस्कृति, आर्यसमाज, अध्यात्म और मानवीय कर्त्तव्यों के उच्चादर्शों पर सरल भाषा में पुस्तक का प्रकाशन कर जनता तक निःशुल्क पहुँचाने का प्रयास करता है। अब तक १–भाष्यकार दयानन्द, २–वेद मन्थन, ३–चरित्र निर्माण, ४–मानवता की ओर आदि पुस्तकें प्रकाशित कर चुका है। दानी महानुभावों तथा सहयोगियों से अपील है कि वे यथाशक्ति आर्थिक सहयोग देकर हमें कृतार्थ करें। हमारे द्वारा प्रारम्भ यज्ञ निरन्तर चलता रहना चाहिये। केवल आपके सहयोग की अपेक्षा है। निवेदक :—

—डॉ० मनुदेव बन्धु

5759

बन्धु साहित्य प्रकाशन का तृतीय पुष्प

भाष्यकार दयानन्द

BHASHYAKAR--DAYANAND

लेखक :—

डॉ० मनुदेव बन्धु

एम०ए० (वेद, हिन्दी, संस्कृत), व्याकरणाचार्य
साहित्य रत्न, सिद्धान्तशिरोमणि, पी-एच० डी०, गोल्डमेडलिष्ट

प्राध्यापक :—
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

निवास :- बन्धु सदन
आर्यनगर-कनखल रोड़. निकट आर्यवानप्रस्थ आश्रम
पोस्ट-ज्वालापुर २४९४०७ (हरिद्वार)

प्रकाशक :—

चन्द्रकान्ता बन्धु

अध्यक्ष, बन्धु साहित्य प्रकाशन
बन्धु सदन, आर्यनगर-कनखल रोड
पोस्ट-ज्वालापुर २४९४०७ (हरिद्वार)

प्रकाशक :—

चन्द्रकान्ता बन्धु

बन्धु सदन

आर्यनगर–कनखल रोड़, पोस्ट–ज्वालापुर २४६४०७ (हरिद्वार)

Bhashyakar-Dayanand : Dr. Manudev Bandhu

प्रथम संस्करण–११०० प्रतियाँ, जनवरी १९८८

पुस्तक प्राप्ति स्थान :–चन्द्रकान्ता बन्धु

बन्धु सदन, आर्यनगर, कनखल रोड

पोस्ट–ज्वालापुर २४६४०७ (हरिद्वार)

हीरालाल आर्य

ग्राम–पथरगामा, पोस्ट–Pathargama, जिला गोड्डा (Godda)

भागलपुर (बिहार)

प्रियव्रत शास्त्री

दयानन्द वेद विद्यालय, ११९ गौतम नगर, दिल्ली–४९

सर्वाधिकार लेखकाधीन

शर्मा प्रिण्टर्स, पीठ बाजार, ज्वालापुर।

समर्पण

पूज्य पिताजी (श्री हीरालाल आर्य) को तथा स्वर्गीया माताजी (श्रीमती रामदुलारी जी) को यह तुच्छ कृति सादर समर्पित है ।

—मनुदेव बन्धु

विषय-सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
१–	लेखक की ओर से	छः
२–	वैदिक वाङ्मय का महत्त्व	१
३–	वेदों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय	४
४–	दयानन्द की भाष्यशैली पर सूक्ष्मेक्षिका	६
५–	वेदों के सम्बन्ध में दयानन्द की मान्यता	१७
६–	दर्श-पूर्णमास	२२
७–	अग्नीषोमीय पशु प्रयोग	२६
८–	रुद्राध्याय	३४
९–	अश्वमेध	३७
१०–	पुरुषमेध	४५
११–	पितृमेध	४८
१२–	उषा-देवता-मन्त्र का तुलनात्मक अध्ययन	५१
१३–	राजनीति परक मन्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन	५७
१४–	अग्नि देवता के मन्त्रों पर विचार	६४
१५–	परमेश्वर अग्नि	७१
१६–	आधुनिक विद्वानों पर महर्षि दयानन्द का प्रभाव	७३
१७–	अग्नि का अर्थ विद्वान् नेता	७५
१८–	अग्नि पुरोहित	८०
१९–	शिक्षा विषयक मन्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन	८२

लेखक की ओर से-

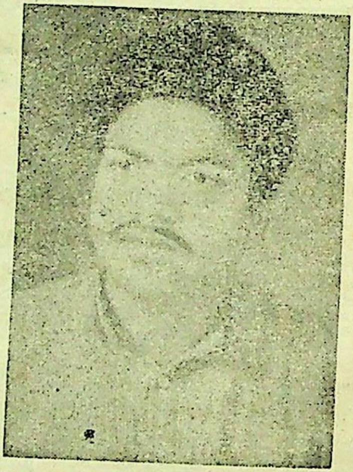

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है । वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ।

वेद भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत हैं । भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है । पुराकाल से भारतीय समाज का वैयक्तिक जीवन, सामाजिक व्यवस्था तथा राष्ट्रिय संगठन श्रुति-भगवती की दृढ़ आधारशिला पर अवलम्बित रहा है । अतः भारतीय सभ्यता-संस्कृति के सम्पूर्ण पक्षों के परिज्ञान के लिये वेदों का अध्ययन-अध्यापन एवं चिन्तन-मनन नितान्त आवश्यक है । वेदों का शाश्वत् निभ्रान्त ज्ञान मानव मात्र की श्रद्धेय सरणी पर आरोहण का सुगम सोपान है, क्योंकि अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मोक्ष से पुनरावर्तित तपः पूत ऋषियों को समाधि की उच्चस्तरीय स्थितियों में वेदों का ज्ञान अवतरित हुआ है ।

वेदों के ऊपर जिन मान्य भाष्यकारों ने अपनी लेखनी उठाई है उनमें आचार्य सायण, उवट, महीधर, वेंकट माधव, ग्रिफिथ, मेक्समूलर तथा महर्षि दयानन्द प्रमुख है । मैंने प्रस्तुत पुस्तक में सभी विद्वान्-भाष्यकारों

के विचारों पर समीक्षा करते हुए **महर्षि दयानन्द** के वेद भाष्य की सर्वोत्कृष्टता और उपादेयता को अङ्गीकार किया है। दयानन्द का भाष्य सुधारवादी परम्परा में है। मध्यकालीन आचार्यों द्वारा किये गये हिंसापरक अर्थों को त्याज्य बतलाकर **महर्षि दयानन्द** के अर्थ को सर्वोत्तम माना है। **महर्षि दयानन्द सरस्वती** वेदों के अद्वितीय तथा अनुपम भाष्यकार हैं। **दयानन्द** की लेखनी निर्द्वन्द्व और निर्भय होकर चलती है। **दयानन्द** ही प्रथम वेद भाष्यकार हैं जिन्होंने वेदों में निहित सत्य का उद्घाटन किया है।

योगी अरविन्द **महर्षि दयानन्द** के वेदभाष्य को पढ़कर उनके सम्बन्ध में अपने विचार निम्न प्रकार व्यक्त करते हैं—

"मेरा पूरा विश्वास है कि वेद की व्याख्या के विषय में **महर्षि दयानन्द** उसके सच्चे सूत्रों के प्रथम आविष्कर्त्ता के रूप में समादृत किये जायेंगे, भले ही वेद की सर्वाङ्गीण व्याख्या कोई क्यों न हो, उनका प्रत्यक्षदर्शी चक्षु पुराने अज्ञान और युगव्यापी भ्रान्ति की अव्यवस्था और अन्ध रात्रि को भेदकर सीधे ही सत्य की तह तक पहुँचा और मूल तत्त्व पर जा टिका। उन्होंने उन द्वारों की कुञ्जी प्राप्त की जिन्हें काल ने बन्द कर रखा था और रुद्ध निर्झरों के मुँह पर लगी मोहर तोड़ फेंकी।

महर्षि दयानन्द ने वेद को अपनी दृढ़ आधारशिला के रूप में अपनाया वे वेद को अपने जीवन का मार्गदर्शक, अपनी आन्तरिक सत्ता का नियम और अपने बाह्य कार्य का प्रेरणा–प्रदाता समझते थे। इतना ही नहीं, वे इसे शाश्वत् सत्य की वाणी समझते थे, जिसे मनुष्य मात्र अपने ईश्वर ज्ञान के लिये तथा भगवान् एवं मानव साथियों के प्रति अपने सम्बन्धियों के लिये उचित और दृढ़ आधार बना सकता है।

महर्षि दयानन्द के इस विचार में तनिक भी मनमानी काल्पनिकता नहीं है कि वेदों में धार्मिक सत्य के सामान ही वैज्ञानिक सत्य भी निहित हैं। इसके साथ ही मैं यह भी कहता हूँ कि मेरे विश्वास के अनुसार वेदों में एक दिव्य विज्ञान के अन्य सत्य भी हैं जो वर्तमान जगत् के पास बिल्कुल ही नहीं है। ऐसी दशा में महर्षि ने वैदिक विद्या की गम्भीरता और विशालता के विषय में अत्युक्ति नहीं बल्कि न्यूनोक्ति ही की है।"

सायण से पूर्ववर्त्ती वेदभाष्यकारों में स्कन्दस्वामी, दुर्गाचार्य, उद्गीथ, हरिस्वामी, उव्वट, वररुचि, भट्टभास्कर, वेङ्कटमाधव, आत्मानन्द, आनन्दतीर्थ, शत्रुघ्न, माधव, गुणविष्णु, भरतस्वामी, देवपाल तथा आनन्दबोध के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से वेदार्थ करने वाले ये भाष्यकार याज्ञिकवाद की कीली के चारों ओर घूमते रहें। त्रिविधप्रक्रिया में अर्थ न करने का इन वेदभाष्यकारों का मुख्य कारण उनकी वेद के सर्वज्ञानमयत्व में निष्ठा का अभाव ही समझना चाहिये। फिर भी, सायण से पूर्ववर्त्ती आचार्यों के वेदार्थ देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यास्कादि आप्त ऋषियों के वेदार्थ के सिद्धान्तों की परम्परा न्यूनाधिक रूप में इन आचार्यों तक बनी रही। परन्तु धीरे-धीरे ह्रासोन्मुख होकर वह लुप्तप्राय सी हो गई। शताब्दियों तक समस्त वैदिक साहित्य याज्ञिकवाद के इर्द-गिर्द घूमता रहा। सायण के काल तक ऐसी स्थिति हो गई कि आध्यात्मिक तत्वों का स्पष्ट निर्देश करने वाले मन्त्रों को भी पकड़-पकड़ कर बलात् यज्ञप्रक्रिया में घसीटा जाने लगा। इतना हि नहीं, शतपथ ब्राह्मणादि वेद के व्याख्यान ग्रन्थों तक में प्रक्षेप कर उन्हें दूषित करने की चेष्टा की जाने लगी। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के राजधर्म का प्रतिपादन करने वाले १९से३१ तक के मन्त्रों का इतना अश्लील अर्थ किया गया है कि वैसा करने पर महीधर स्वयं

ग्लानि अनुभव कर ३२वें मन्त्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि "इन अश्लील भाषण के कारण जो हमारे मुख दुर्गन्धित हो गये हैं उन्हें यज्ञ फिर से सुगन्धित कर दे" (अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि अस्माकं मुखानि सुरभीणि यज्ञः करोत्वित्यर्थः) मन्त्र में न अश्लील शब्द हैं और न मन्त्रों के अर्थों में कोई अश्लीलता है। स्वयं हि पहले जानबूझ कर अश्लीलता आरोपित कर दी और स्वयं ही उस अपराध के लिए प्रायश्चित्त की बात कह डाली। शतपथब्राह्मण में भी वैसा ही अर्थ उपलब्ध है। परन्तु शतपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र इस मन्त्र का अत्यन्त शुद्ध, युक्तियुक्त एवं उपादेय अर्थ भी उपलब्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि मांसभक्षण,मदिरापान, पशुबलि, गुप्तेन्द्रिय पूजन आदि आसुरी प्रवृत्तियों का ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रक्षेप कर दिया गया। और उन्हें वेद की संज्ञा देकर अपनी मान्यताओं की वेद के नाम पर पुष्टि कर दी गई। क्या वेद इसी प्रकार के कुकृत्यों का प्रतिपादन करता है? यदि इसका उत्तर 'हां' में है तो बुद्ध जैसे पवित्रहृदय महात्मा के स्वर में स्वर मिला कर लोग यही कहने को विवश होंगे कि हम ऐसे वेदों को नहीं मानते। परन्तु इसमें वेद का दोष नहीं है। दोष उस ऐनक का है जिसमें से देखने पर सब हरा ही हरा दिखाई पड़ता है।

इसमें सन्देह नहीं कि सायणाचार्य ने अपने समय में वैदिक साहित्य में महान् प्रयास किया। वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा आरण्यकों के भाष्य किये। अन्य अनेक विषयों पर भी बहुत से प्रौढ़ ग्रन्थ लिखे अथवा लिखवाये। उनके वेदभाष्य में व्याकरण आदि का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है। सायणाचार्य के इस प्रयास के लिए हम उन्हें साधुवाद दिये बिना नहीं रह सकते। परन्तु मूलभूत धारणा के भ्रान्त होने के कारण उन्होंने स्वयं ही अपने किये कराये पर पानी फेर दिया

संस्कृत के यूरोपियन विद्वानों में लार्ड मेकाले द्वारा नियुक्त प्रोफेसर मैक्समूलर सर्वोपरि माने जाते हैं। उनके वेद के अनुसन्धान और अनुवाद कार्य में लगने का क्या उद्देश्य था, यह उन्होंने अपनी पत्नी के नाम लिखे एक पत्र में स्पष्ट किया है—

"This edition of mine and the translation of the Veda, will, hereafter, tell to a great extent on the fate of India. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years."

(Life and Letters of Frederick Maxmuller.
Vol. I, chap. xv, Page 34)

अर्थात् मेरा यह संस्करण तथा वेद का अनुवाद भारत के भाग्य को दूर तक प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है और उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन हजार वर्षों में इससे उत्पन्न होने वाली सब बातों को मूल सहित उखाड़ने का एकमात्र उपाय है।

वेद का एक एक शब्द अपने पेट में न जाने कितने ज्ञात एवं अज्ञात अर्थों को धारण किये हुए है और फिर उन अर्थों के विशाल क्षेत्र में जितना विचरण करते चले जायेंगे, उत्तरोत्तर नवीन अर्थ और ज्ञान की उपलब्धि होती जायेगी। श्री अरबिन्द के अनुसार सायण के साथ बंधे होने के कारण वैदिक शब्दों के वास्तविक अर्थों से अनभिज्ञ होने के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वान् विकासवाद के खूँटे से भी बंधे थे। यद्यपि मानव में ज्ञान का विकास उसकी चिन्तन शक्ति के साहचर्य से होता है,

तथापि जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त करता है उसका आदिमूल वह स्वयं नहीं है। वेद की ध्वनि अपने आदिस्रोत परमेश्वर से निःश्वसित होकर परा, पश्यन्ती तथा मध्यम मार्गों से होती हुई वैखरी रूप में हमें प्राप्त हुई। जिन ऋषियों के माध्यम से वह हम तक पहुँची वे उसके रचयिता न होकर अभिव्यञ्जक मात्र थे। अनादि काल से मनुष्य वेदरूपी ज्ञान के निरतिशय एवं अक्षय कोष से अपनी बुद्धि की ज्ञान प्राप्त करने की चेतना अथवा शक्ति के अनुसार ग्रहण करता रहा है। विकासवाद को मानने वाले वेदज्ञान के अनादित्व के सिद्धान्त को कैसे स्वीकार कर सकते हैं? सुदूर अतीत में भारतीय आर्यों को एक अत्यन्त सभ्य, संस्कृत तथा ज्ञान-विज्ञान में अत्यधिक उन्नत जाति अथवा समाज के रूप में देखने में उनका जातीय पक्षपात भी आड़े आता है।

दयानन्द ने अपना सम्पूर्ण जीवन वेद के प्रचार व प्रसार में लगा दिया। वेद के वास्तविक अर्थ के उद्घाटन में **दयानन्द** अग्रगामी हैं। प्रस्तुत कृति से **दयानन्द** को तथा उनके वेदभाष्य को समझने में सहायता मिलेगी।

अन्त में मैं पुस्तक की प्रकाशिका अपनी पत्नी **श्रीमती चन्द्रकान्ता बन्धु** को धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने मेरी कृति को प्रकाशित करके जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया।

डॉ॰ मनुदेव बन्धु

प्राध्यापक वेद विभाग

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

सम्मति

प्रियवर **डॉ० मनुदेव बन्धु** प्राध्यापक वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार द्वारा लिखित एवं प्रकाशित पुस्तक **"भाष्यकार–दयानन्द"** को पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। आधुनिक युग के पुरोधा **महर्षि दयानन्द** ने वेद विद्या के चतुर्दिक प्रचार प्रसार का महनीय कार्य किया। वेद के सम्बन्ध में व्याप्त मिथ्या धारणाओं एवं भ्रान्तियों का निवारण कर **महर्षि** ने वेद मन्त्रों के सत्यार्थ को प्रकाशित करने हेतु एक ऐसी भाष्य पद्धति विद्वानों के समक्ष रखी जिससे श्रुतिज्ञान की सर्वोत्कृष्टता तथा मानव मात्र के लिये उपयोगी सिद्ध हो सके।

डॉ० मनुदेव बन्धु ने अपनी इस पुस्तक में **स्वामी दयानन्द** जी के प्रति अगाध श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए अग्नि, उषा, अश्विनौ, इन्द्र, रुद्र, अश्वमेध, पुरुषमेध, पितृमेध आदि के यास्कानुमोदित, **दयानन्द** की शैली परक अर्थ प्रस्तुत कर **महर्षि** की भाष्य सम्बन्धी मान्यताओं को उद्घाटित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है।

विवेच्य पुस्तक वेद का अध्ययन करने वाले छात्रों एवं श्रद्धालु जनों के लिये पठनीय है। इस प्रशंसनीय कार्य के लिये मैं श्री प्रियवर **डॉ० मनुदेव बन्धु** को हृदय से साधुवाद देता हूँ और यह आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे इसी प्रकार लेखन कार्य में संलग्न रहेंगे तथा वेद की सेवा करते रहेंगे।

शुभाकाँक्षी

रामप्रसाद वेदालङ्कार
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैदिक वाङ्मय का महत्त्व

वेद भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान–विज्ञान के मूल स्रोत हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। प्राक्तन काल से भारतीय समाज का वैयक्तिक जीवन, सामाजिक व्यवस्था तथा राष्ट्रीय संगठन श्रुतिभगवती की दृढ़ आधारशिला पर अवलम्बित रहा है। अतः भारतीय सभ्यता-संस्कृति के सम्पूर्ण पक्षों के परिज्ञान के लिये वेदों का अध्ययन–अध्यापन एवं चिन्तन–मनन नितान्त आवश्यक है। वेदों का शाश्वत् निर्भ्रान्त ज्ञान मानवमात्र की श्रद्धेय सरणी पर आरोहण का सुगम सोपान है; क्योंकि अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मोक्ष से पुनरावर्तित तपःपूत ऋषियों को समाधि की उच्चस्तरीय स्थितियों में वेदों का ज्ञान अवतरित हुआ है।[1]

वेद ही आर्यों का सर्वस्व है, स्वतः प्रमाण है तथा सूर्य के समान अपना प्रकाश करता हुआ अन्य समस्त पदार्थों का प्रकाश करने वाला है। यह सत्यविद्याओं का निधान है तथा उसी के आधार पर अन्य समस्त विद्याओं का विकास हुआ है।[2] यह विश्वास अनादिकाल से

---

१. तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेः
ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥ श० ब्रा० ११।५।२।३ ॥

२. न वेदशास्त्रादन्यत्तु किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निस्सृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात् ॥ या० स्मृ० ॥

चला आ रहा है। वेद को मूल प्रमाण मानकर मनुष्य जाति के लिये आचार-विचार एवं धर्म-कर्म की व्यवस्था स्मृतियों, दर्शनों तथा उपनिषदों आदि में प्रतिपादित की गई है। वेद का विरोध सह्य नहीं माना गया। परमात्मा की सत्ता का निषेध करने वाले की तो बात ही क्या, अपौरुषेय वेद का विरोध करने वाला भी नास्तिक माना गया है।[1] वेद की साक्षी के विरुद्ध स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्त या वाक्यों को अप्रामाणिक जानकर अग्राह्य माना जाता है। इस कारण जीवन के साथ वैदिक स्वाध्याय का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए मनुस्मृति में व्यवस्था दी गई है कि 'जो द्विज वेद का अध्ययन न कर अन्य शास्त्रों में श्रम करता है, वह बन्धु-बान्धवों सहित शूद्र–[जो पढ़ाने से भी न पढ़ सके]–कोटि में चला जाता है।'[2] इसीलिये आज भी प्रबुद्ध विद्वानों एवं आर्यों में वेद के प्रति अगाध श्रद्धा देखी जाती है; क्योंकि सभी शास्त्रों में वेद ही एक ऐसा शास्त्र है जो मनुष्यमात्र के अभ्युदय तथा निःश्रेयस के लिये अद्वितीय सामग्री उपस्थित करता है।

स्मृतियों, पुराणों तथा वेदेतर साहित्य में 'वेद की पर्याप्त प्रशंसा उपलब्ध होती है। मनु के अनुसार 'वेद पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सनातन चक्षु है।[3] लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिये जिस प्रकार नेत्र की उपयोगिता है उसी प्रकार अलौकिक तत्वों

---

१. नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ मनु० २।११ ॥

२. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ मनु० २।१६८ ॥

३. पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ मनु० १२।९४ ॥

के रहस्यों को जानने के लिये वेद की उपयोगिता है। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार के अलौकिक उपाय को बताने वाला ग्रन्थ वेद ही है। वेद का वेदत्व इसी में है कि 'वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वयं कराता है।[1] वेद की आध्यात्मिक क्षेत्र में इतनी प्रतिष्ठा है कि अनेक प्रबल तर्कों के सहारे विपक्षियों की युक्तियों को निरस्त कर देने वाले तर्ककुशल आचार्यों के सामने यदि कोई वेद विरुद्ध प्रसङ्ग दृष्टिगोचर होता है तो विपक्षी भी हतप्रभ हो जाता है। इस प्रकार वेदों का माहात्म्य प्राच्य तथा अर्वाच्य मनीषियों के ग्रथित ग्रन्थों में विशदरूप से प्रतिपादित है।

शतपथ ब्राह्मण में वेदाध्ययन का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है कि—'धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जितना फल होता है, वेदों के अध्ययन से उससे भी बढ़कर अविनाशी अक्षयलोक को मनुष्य प्राप्त करता है।[2]

●●●

१. प्रत्क्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।। सायण ।।

२. यावन्तं ह वै इमां पृथिवीं वित्तेनपूर्णाददल्लोकं जयति-त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांसं च अक्षय्यं च य एवं विद्वान् अहरहःस्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ।। श० ब्रा० ११।५।६।१ ।।

वेदों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

वेदों में वर्णित विषयों के सम्बन्ध में विविध दृष्टिकोण मिलते हैं, यहाँ संक्षेप में उनका विवेचन करेंगे।

'अर्थवाचः पुष्पफलमाह याज्ञदेवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा'—

निरुक्त के इस वचन का विश्लेषण करते हुए सायणाचार्य कहते हैं—पूर्वकाण्डोक्त धर्म का ज्ञान वाणी का पुष्प है और उत्तरकाण्डोक्त ब्रह्म का ज्ञान फल है। जैसे लोक में पुष्प फल का उत्पादक होता है उसी प्रकार वेद के उपदेश आदि से जो धर्म का ज्ञान होता है वह अनुष्ठान द्वारा ब्रह्मज्ञानरूपी फल की इच्छा उत्पन्न करता है·· और जैसे फल तृप्ति का हेतु होता है वैसे ही यह भी कृत-कृत्यता का हेतु होता है।[1] इसी प्रकार वेद के अनुबन्धचतुष्टय का विचार करते हुए सायण ने कहा है—**'वेदे पूर्वोत्तरकाण्डयोः क्रमेण धर्मब्रह्मणी विषयः'**[2] अर्थात् वेद में पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड के विषय क्रम से धर्म तथा ब्रह्म हैं। सायण ने अपने कथन की पुष्टि के लिये शाबरभाष्य तथा

---

१. पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम्। उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम्।

२. यथा लोके पुष्पं फलस्योत्पादकं तथा वेदानुवचनादिधर्मज्ञानमनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति। यथा च फलम् तृप्तिहेतुस्तथा ब्रह्मज्ञानं कृत्य-कृत्यत्वहेतुः।—ऋग्वेदभाष्यभूमिका-सायणाचार्य, पृष्ठ १०८–१०९।

शांकरभाष्य का सन्दर्भ प्रस्तुत किया है।[1] सायण के मत में वेद और वेदाङ्ग सभी अपराविद्या के अन्तर्गत हैं और उपनिषद् पराविद्या हैं। इस प्रकार वैदिक संहिता आदि का प्रतिपाद्य विषय धर्म है और उपनिषदों का ब्रह्म। किञ्च धर्म का अर्थ है—अनुष्ठान के अनन्तर होनेवाला अदृष्ट। अनुष्ठान का अभिप्राय है—यज्ञ आदि करना। इस प्रकार वेद का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ आदि का विधान है और वेदार्थ-ज्ञान यज्ञानुष्ठान के लिये आवश्यक है।

सायणाचार्य एवं उवट, महीधर आदि ने वेदमन्त्रों को यज्ञानुष्ठान के लिये विभिन्न विनियोगों में नियुक्त किया है। कहीं-कहीं विनियोग अत्यन्त अनर्गल, अश्लील तथा अवैज्ञानिक हैं। सायण की मान्यता-नुसार वेदों के प्रतिपादित विषय नितान्त सामान्य अर्थ तथा असङ्गत प्रतीत होते हैं। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने वेदों में एक दूसरे ही प्रकार के देवतावाद का प्रतिपादन किया है। उनके विचार में वेदों में तैंतीस देवताओं की उपासना कही गई है। एक स्थल पर तो वेदमन्त्र में ३३३९ देवता गिनाये गये हैं फिर भी वे इसे बहुदेवतावाद की संज्ञा नहीं देते, क्योंकि वेदों का बहुदेवतावाद ग्रीक व रोमन के बहुदेवतावाद से मेल नहीं खाता। ग्रीक व रोम में बहुदेवतावाद का अर्थ है एक परमदेव के शासन में अनेक छोटे-बड़े देवताओं का होना। उनके विचार में वैदिक देवतावाद इससे सर्वथा भिन्न है, क्योंकि वैदिक ऋषि प्रत्येक देवता को परमदेव मानकर पूजते थे, वह चाहे कितना भी छोटा क्यों न हो। इस वैदिक देवतावाद को मैक्समूलर ने नया नाम दिया—"केनोथिइज्म" अर्थात् एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा

---

१. ऋग्वेद भाष्यभूमिका ११३-११४। २. ऋग्वेद भाष्यभूमिका।

"हीनोथिइज्म" अर्थात् पृथक्-पृथक् देवताओं की पूजा ।[1]

वेदों के वर्ण्य विषयों की दृष्टि से महर्षि दयानन्द का दृष्टिकोण व्यापक है। उन्होंने सायण के मत का निराकरण करते हुए लिखा है कि, "सायणाचार्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थ को न जानकर कहा हैं कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं, यह उनकी बात मिथ्या है।"[2] दयानन्द के अनुसार वेद के अवयवरूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं—विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान।

१. **विज्ञान**—विज्ञान से तात्पर्य ज्ञान की उस प्रणाली से है जिसमें ज्ञान, कर्म, उपासना इन तीनों के समुचित उपयोग से परमेश्वर से लेकर समस्त पदार्थों का बोध होता हो तथा मानव जाति के अभ्युदय तथा निःश्रेयस की प्राप्ति में उनका यथावत् उपयोग होता हो। इस प्रकार विज्ञान वेदों का मुख्य विषय है। महर्षि दयानन्द विज्ञान के भी दो भेद मानते हैं—

---

१. It was necessary, therefore, for the purpose of accurate reasoning to have a name different from polytheism, to signify this worship of single gods, each occupying for the time a supreme position, and I proposed for it the name of Kenotheism, that is a worship of one God after another or of Henotheism, the worship of a single God.

F. Max Muller, 'India, What Can It Teach us ?'
Page. 146–147, 1892

२. ऋ० भा० भू० भाष्यकरण-शंका-समाधानादिविषयः, पृ० २५१।

(अ) ईश्वर का यथावत् ज्ञान एवं उसकी आज्ञाओं का पालन।

(आ) पदार्थविद्या का ज्ञान अर्थात् पदार्थों के गुणों व उपयोगों को जानना।

इन दोनों में महर्षि दयानन्द ईश्वर- विषय को ही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बताते हैं।[1]

२. **कर्म**—जीवन में परमार्थ तथा लोक–व्यवहार की सिद्धि करने वाला कर्मकाण्ड बताया गया है। स्वामीजी का कर्मकाण्ड से तात्पर्य केवल यज्ञयाग से नहीं है, अपितु वे उसमें जीवन की समस्त क्रियाओं का समावेश कर लेते हैं जिनसे सबका उपकार होता है।[2]

३. **उपासना**—इसमें परमेश्वर की प्राप्ति के लिये स्तुति, प्रार्थना, उपासना के समस्त यौगिक साधनों का समावेश है।

४. **ज्ञान**—ज्ञान का अर्थ है पृथिवी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना। इसे हम भौतिक विज्ञान के अर्थ में ले सकते हैं। वेद की भाषा में विज्ञान ईश्वर, आत्मा आदि के ज्ञान को कहते हैं, जबकि ज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) के अर्थों में आता है।

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में वेदों में केवल अपरा विद्या ही नहीं है अपितु परा विद्या भी है। जिसको पहले ज्ञान कहा है उसे दूसरे शब्दों में अपरा विद्या कहा गया है। अपरा का ही फल परा है। इस

---

१. ऋ० भा० भू० वेदविषयविचार, पृ० ३१-३२।

२. **तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः सर्वक्रियामयोऽस्ति।**

ऋ० भा० भू० वेदविषय, पृ० ३२।

प्रकार सभी वेद केवल अपरा विद्या के अन्तर्गत नहीं आते, उनमें परा विद्या भी है। उसका ही वर्णन उपनिषद्, सांख्य, योग, वेदान्तादि शास्त्रों में विशदरूप से किया गया है।

"व्यापनशील परमात्मा के अत्यन्त आनन्दरूप, प्राप्तव्य मोक्ष पद को योगी विद्वान् सदैव–सर्वत्र व्याप्त हुआ देखते हैं। जैसे कि स्वच्छ आकाश में देदीप्यमान सूर्य के प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म–पद भी स्वयंप्रकाशस्वरूप सर्वत्र व्याप्त हो रहा है।"[1] उस पद की प्राप्ति से कोई अन्य प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिए चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने का प्रबल प्रयत्न कर रहे हैं। व्यास मुनि ने भी वेद का समर्थन किया है कि 'सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है। कहीं-कहीं साक्षात् रूप से और कहीं-कहीं परम्परा से।'[2] इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है और इससे पृथक् जो जगत् आदि अर्थ है वह गौण है। 'प्रधान और अप्रधान की प्रवृत्ति में प्रधान का ही ग्रहण होता है—'[3] इस शास्त्रीय नियमानुसार वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर का प्रतिपादन और प्राप्ति कराने और करने में है।[4] वेदों के व्यावहारिक और पारमार्थिक अर्थ होते हैं।

● ● ●

---

१. **तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥**
—ऋग्० १।१।२०; साम० १६७।

२. **तत्तु समन्वयात्॥** वेदान्तदर्शन १,१।४॥

३. **प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः॥** महाभाष्य॥

४. द्रष्टव्य—ऋ० भा० भू० (वेदविषय विचार)।

दयानन्द की भाष्य-शैली पर सूक्ष्मेक्षिका

दयानन्द का वेदभाष्य यास्क की मान्यताओं को स्वीकार करता है। देव-दृष्टि को समझाते हुए यास्क ने अपनी त्रिविध देवपरिकल्पना में तीन स्तरों की क्रमशः आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूप में जो कल्पना की है, उसे अग्नि, पर्जन्य, आदित्यादि के भेद से समझाते हुए वे अन्त में वैश्वानर के रूप में एक ही परमदेव स्वीकार करते हैं। अपने युग के अज्ञानान्धकार को देखते हुए ऋषि दयानन्द ने आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही महादेव परमात्मा को स्वीकार किया और आध्यात्मिक अर्थ में अग्नि, इन्द्र आदि का अर्थ व्याकरण और निरुक्त के आधार पर परमात्मा की ही विविध शक्तियों के उद्घोषक के रूप में स्वीकार किया। अतः एकेश्वरवाद या महादेववाद को ही ऋषि की निष्ठा का आधारभूत सत्य कहा जा सकता है। निस्सन्देह यास्क की भान्ति व्याकरण के परम पण्डित होकर ही दयानन्द निरुक्त या निर्वचन पद्धति का आश्रय व्याकरणके प्रमुख अङ्ग-रूप में मानकर ही बढ़ रहे थे।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि दयानन्द की वेदभाष्य में प्रवृत्ति क्यों हुई? जहाँ मध्ययुगीन ईश्वर भावना से दयानन्द विचलित थे और सच्चे ईश्वर के स्वरूप को जानने की उत्कण्ठा से व्यग्र थे, वहाँ उनके गुरु विरजानन्द अपनी प्रज्ञा से इस तथ्य को पाकर अत्यन्त खिन्न थे कि महान् वैयाकरण माधव एवं उनके परम वेदविद् भ्राता सायण दोनों ने ही जिस वेदभाष्य को वेदों के पुनरुद्धार की भावना से पूर्ण

किया, उसमें न तो व्याकरण की पूर्ण रक्षा हुई और न ही यास्क की आर्ष–पद्धति को पूर्णत: अपनाया गया। अत: उन्होंने ऋषि को जो दृष्टि दी, वह जहाँ ऋषि की मूल जिज्ञासा को शान्त करने वाली थी, वहाँ बुद्धयुग से लेकर मध्ययुग तक की परिव्याप्त ईश्वर सम्बन्धी अवैदिक एवं अनार्ष धारणाओं पर आश्रित सायण, माधव, महीधर और उव्वट आदि की त्रुटियों को भी उद्घाटित करने वाली थी। सम्भवत: इसका कारण इन विद्वानों का समसामयिक परिस्थितियों से प्रभावित अनार्ष एवं परवर्ती ग्रन्थों पर आश्रित रहना था तथा साथ ही साथ स्वानुभूति एवं धर्मसाक्षात्कार का अभाव था। अत: वेदोद्धार की चिन्ता होने पर भी किसी मूल निष्ठा एवं व्यग्रता से परिचालित न होने के कारण वे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री केवल व्याकरण के आश्रय पर ही मान बैठे।

सम्भवत: दयानन्द का आक्रोश उनके प्रति इतना न होता और वे भी अपना वेदभाष्य बिना किसी सिद्धान्त के कर देते, यदि उन्हें इससे होने वाला एक अन्य कुपरिणाम बहुत भयंकर रूप में व्यथित न कर रहा होता। वे यह देख रहे थे कि सायणादि ने व्याकरण मात्र को दृष्टि में रखकर अग्नि, सूर्यादि से सम्बन्धित मन्त्रों का जिस प्रकार अर्थ किया, उसको ही पढ़कर जो पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर आदि वेदभाष्य में प्रवृत्त हो रहे थे, वे अपने अधकचरे व्याकरण ज्ञान के आधार पर उसमें भी और भौतिकवादी संशोधन कर रहे थे तथा प्रतीकात्मक और वेदमन्त्रों की लाक्षणिकता से आपूर्ण उक्तियों को भी सामान्य बोलचाल की बातें मात्र सिद्ध कर रहे थे। इसी का परिणाम यह है कि उन्होंने सायण आदि की मूल भावना को बिना समझे वेदों को बहुदेववादी वैदिक ऋषियों को जड़–देव उपासक एवं वैदिक उपासना पद्धति को परवर्ती दूषित कर्मकाण्ड पर आधारित मात्र सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने एक नया काम यह किया है कि जहाँ

सायण आदि ने अपनी बुद्धि से वैज्ञानिक एवं आधुनिक दृष्टि से चमत्कारपूर्ण रहस्यों को सामान्य तथ्यों की भांति उद्‌घोषित किया था वहाँ उन्हें इन पाश्चात्य विद्वानों ने मूर्खताजन्य कल्पना–मात्र घोषित करके सर्वथा नये, अज्ञानपूर्ण एवं अवनतिपरक अर्थों की अभिव्यक्ति की। परिणामतः जहाँ एक ओर वे भारत के अतीत को मानवता की प्रथम सर्वोच्च निधि घोषित कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने वेदों को सचमुच ही "गड़रियों के गीत" जैसी वस्तु घोषित कर दिया। इस पर भी विडम्बना यह है कि वे सायण आदि को ही अपना मूल स्रोत एवं प्रकाशस्रोत उद्‌घोषित करते रहें। दयानन्द इस बात से व्यथित थे।

एक ओर जहाँ वे सायण के व्याकरण ज्ञान के अत्यधिक प्रशंसक थे, दूसरी ओर वहाँ उन्हें यह दुःख था कि सायण भी उनकी भान्ति यास्कीय एकात्मवाद या महादेववाद से क्यों व्यथित नहीं थे। उन्हें यह भी दुःख था कि सायण विज्ञान के केवल उन्हीं तथ्यों को उद्‌घाटित कर पाये जो उनके युग तक किसी न किसी भान्ति सत्य और मान्यता को प्राप्त हो सकते थे। उन्होंने युग से ऊपर उठकर वेदों में वर्णित तथ्यों को वैदिक तथ्यों की भान्ति यथावत् रूप में क्यों प्रकट नहीं किया। ये ही सब कारण थे जिनसे व्यथित होकर दयानन्द वेदभाष्य में प्रवृत्त हुए।

ऋग्वेदादि–भाष्य–भूमिका में वे अपनी वेदभाष्य पद्धति का आधार इस श्लोक में वर्णित करते हैं—

आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा॥

उनके वेद भाष्य को पढ़ते हुए यदि उक्त बातों को हम ध्यान में रखें तब यह स्पष्ट होगा कि व्याकरण, इतिहास, कर्मकाण्ड आदि की दृष्टि से जो अशुद्धियाँ समझी जाती हैं, वास्तव में वे ही उनकी भाष्य शैली की पृथकता एवं एकात्मकता की प्रतीति है। उनका वेदभाष्य केवल मन्त्रों के शाब्दिक अर्थ तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह एक समग्र भावना से जन्म लेने वाला तथ्य है। परम व्याकरणवित् होने के कारण ऋषि स्फोट में विश्वास रखते थे और मन्त्रार्थ का वह स्फोट उनके हृदय में जिस भी रूप में हुआ, व्याकरण, निरुक्त आदि की सहायता से तत्रस्थ शब्दों का शाब्दिक या पदगत अर्थ भी उन्होंने उसी को व्यक्त करने के लिये उससे सम्बन्धरूप में कर दिया। यही कारण है कि हम कारक आदि के परस्परागत अर्थों को वहाँ न पाकर एक समग्र तथ्य के अङ्गभूत रूप में पाते हैं।

भाष्य शैली के मूलाधार ग्रन्थ :–ऋग्वेदादि–भाष्यभूमिका, ऋग्वेद-भाष्य, यजुर्वेद-भाष्य, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि आदि हैं। भाष्य की मूल भावना, एकेश्वरवाद और त्रैतवाद में विश्वास, परब्रह्म के निराकर, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी होने में निष्ठा और जीव प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता एवं शक्तियों में आस्था है।

भाष्य शैली :–दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में एक ऐसा निश्चित क्रम अपनाया है कि वे स्वयं भी किसी प्रकार की व्याकरणात्मक या या अन्य उपेक्षा अपने वेद भाष्य में करने को तैयार नहीं थे।

१– सर्वप्रथम मन्त्र का मुख्य विषय देते हैं और संक्षेप में समझाते हैं कि इस मन्त्र में इस विषय का प्रतिपादन है।

२– द्वितीय स्थान वे 'पदच्छेद' को देते हैं जो कि पुरातन पद्धति के वेदपाठ का ही रूपान्तर है। इसमें हम यदि कहीं उपलभ्य हो तो

उनकी त्रुटि को या पूर्व परम्परा से विभेद को पहिचानने में समर्थ हो सकते हैं।

३– तृतीय स्थान वे "अन्वय" को देते हैं। वास्तव में अन्वय ही मन्त्र की मूलस्थ वृत्ति को निश्चित करने वाला है। व्याकरणात्मक रचना एवं वाक्यविन्यास की परीक्षा का अवसर यहाँ पर भी उपस्थित होता है।

४– दयानन्द की भाष्य शैली का चतुर्थ और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाग है 'पदार्थ'। वास्तव में किसी भी भाष्यकार या व्याख्याकार को पदार्थ के प्रसङ्ग में ही अपनी प्रतिभा या मूलभावना दिखाने का अवसर मिलता है। सायण और दयानन्द दोनों ही ऐसा करते हुए व्याकरण एवं निरुक्त या निर्वचन पद्धति का भरपूर आश्रय लेते हैं। अन्तर केवल इतना है कि सायण जहाँ सामान्य लोकभाषा जैसे अर्थों से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, वहाँ दयानन्द वेदों की विशिष्ट पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए और पूर्वकथित सिद्धान्तों के आधार पर ही उन्हीं सामान्य शब्दों को विशेष वैदिक दृष्टि से देखते हैं। दयानन्द यह भी जानते हैं कि वेद की प्राचीनतम भाषा की व्याख्या पाणिनि और उसके परवर्ती वैयाकरणों द्वारा किये गये धातुपाठों और धात्वर्थों एवं प्रकृति-प्रत्यय-विभाग मात्र के आधार पर नहीं की जा सकती। स्वयं सायण ने भी कुछ विशिष्ट स्थलों पर इस तथ्य को स्वीकार किया है। परन्तु यास्क तो स्वयं पाणिनि से बहुत पूर्व हुए थे। असाक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के समकालीन होने पर भी वे स्वयं वेद और धर्म का साक्षात्कार कर चुके थे। इसलिये उनके द्वारा दिये गये धात्वर्थ, व्याकरण नियम एवं प्रकृति-प्रत्यय विभाग उनकी स्वतन्त्र चेतना एवं तीक्ष्ण प्रतिभा

के द्योतक हैं। उन्होंने प्रातिशाख्यों की व्याख्या पद्धति एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की व्याख्या पद्धति को भी हृदयङ्गम किया था। दयानन्द ने यास्क सहित उक्त सभी पद्धतियों को स्वीकार किया था और जहाँ-जहाँ भी नवीन धातुओं, धात्वर्थों एव प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना की, वह सब उनके इस पूर्वोक्त अध्ययन पर ही आधारित था। अन्तर केवल इतना ही है कि दयानन्द जिस युग में जिस विद्वद्वर्ग के लिये तथा जिस ज्ञान सामान्य को दृष्टि में रखकर लिख रहे थे, उन सबके लिये यास्क आदि से प्राप्त तथा युग-चिन्तन से प्रबुद्ध अपनी भावना को व्यक्त करना उनके लिये सर्व-प्रमुख बन चुका था। इसलिये वे इस पदार्थ नामक शीर्षक के अन्तर्गत केवल परिच्छेद एवं अर्थविच्छेद करके ही सन्तुष्ट हो जाते, अपितु भाष्य की पद्धति से उसके पीछे छिपी मूल भावना को भी स्पष्ट करते हैं। इसी कारण कहीं-कहीं उन्हें अन्वय में पूर्वोल्लिखित पदक्रम से भिन्न क्रम को अपनाना पड़ता है तथा कारक आदि के निश्चित विभक्त्यर्थ आदि की परवाह न करके भी प्रकरणानुकूल अर्थ को स्पष्ट करना पड़ता है। उनके मन्त्रार्थ या उसके भाष्य को एक इकाई मानकर चलते हैं। इसी कारण "पदार्थ" को महत्त्व न देकर उसे केवल मुख्यार्थ को अङ्गभूत अंश ही मानते हैं तथा उसी दृष्टि से उसका स्थान और क्रम निश्चित करते हैं। उनका सत्यभाष्य या वेदार्थ इन्हीं पदार्थों से स्पष्ट हुआ है।

५– दयानन्द की भाष्य पद्धति का पञ्चम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश भावार्थ है। पदार्थ करते हुए वे व्याकरण, निरुक्त आदि जिन सीमाओं में चलने को बाध्य होते हैं, भावार्थ में वे उन सबको तिलाञ्जलि दे देते हैं। उस मन्त्र विशेष को पढ़ने या मनन करने पर जो भी दृष्टि, भावना या प्रेरणा उनके सामने जागती है उसे

ही वे किसी पद-पदार्थ के बन्धन में पड़े बिना भावार्थ के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। सच तो यह है कि इस भावार्थ को उस मन्त्र विशेष के सम्बन्ध में दयानन्द की अपनी टिप्पणी कहा जा सकता है। भाष्य यदि उक्त, अनुक्त और दुरावतादि सभी बातों का पर्यालोचन करते हुए बढ़ता है, तब कहना होगा कि दयानन्द भावार्थ के माध्यम से उसी उद्देश्य की पूर्ति में प्रवृत्त होते हैं। उस दृष्टि में यदि पदार्थ उनके ज्ञान का सूचक है तो भावार्थ उनके मनन और चिन्तन का। दूसरे शब्दों में उनके वेद-भाष्य का अंशभूत यह भावार्थ ही उन्हें सच्चा ऋषि सिद्ध करता है— "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"। क्योंकि उनकी सच्ची मन्त्रदृष्टि यहीं पर पूर्णतया व्यक्त हुई है।

इसी प्रसङ्ग में हमारा यह कहना सार्थक होगा कि दयानन्द रूढ़िवादिता के पुजारी नहीं है। क्योंकि दयानन्द ने एक ही मन्त्र का विविध ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से भाष्य किया है। इससे यह भी सिद्ध होता हैं कि वेद में क्वापि पुनरुक्ति दोष नहीं है।

अन्त में यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि दयानन्द केवल ईश्वरपरक अर्थ को भी सच्ची वेदभावना नहीं मानते थे। वे स्पष्टतः वैदिक विषयों अपि वा देवताओं के तीन स्वरूप मानते हैं। (१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक, (३) आध्यात्मिक। अतः वे यह सम्भावना मानकर चल रहे थे और ऋग्वेदादि–भाष्यभूमिका और सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने इस बात की बार-बार घोषणा की है कि अनेकत्र एक ही मन्त्र का अर्थ और उसकी व्याख्या अनेक दृष्टियों से या उक्त तीनों दृष्टियों से की जा सकती है। इनमें से एक दृष्टि भी अनेक वेदों से भिन्न हो सकती है। यथा–आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या

करने पर एक ही मन्त्र परमात्मा और जीवात्मा के प्रसङ्ग में भिन्न भिन्न अर्थों में व्याख्यात किया जा सकता है। भौतिक दृष्टि से विवेचन करने पर अग्नि आदि की व्याख्या अनेक रूपों में की जा सकती है। यही बात अग्नि आदि के आधिदैविक अर्थों के सम्बन्ध में भी है। प्रथम दृष्टि से अग्नि और इन्द्र आदि परब्रह्म और जीवात्मा आदि के लिये यथाप्रसङ्ग स्थित रहते हैं तो दूसरी ओर आधिदैविक रूप में अतिथि, संन्यासी, पर्जन्य, स्तनयित्नु आदि के रूप में भी इन सब दृष्टियों और सम्भावनाओं को सामने रखकर तथा यथासम्भव उत्तमोत्तम ज्ञान की उपलब्धि करके ही वेदार्थ में प्रवृत्त होना चाहिये। वे वेद को परमेश्वरीय और नित्य ज्ञान मानते हैं। उसे सभी प्रकार के सम्भव ज्ञान की अपेक्षा उच्चतर एवं पूर्वतर ज्ञान का भण्डार मानते हैं। इसलिये वास्तविक भाष्य आरम्भ करने से पूर्व उन्होंने एक-एक मन्त्र के अनेक प्रकार के अर्थों से युक्त भाष्य के कुछ नमूने छापकर विद्वद्वर्ग में वितरित किये थे। परन्तु साथ ही यह भी घोषित किया था कि सभी वेदमन्त्रों का इस प्रकार भाष्य करने में अत्यन्त श्रम, समय, धनादि की आवश्यकता होगी जो कि उनके लिये जुटा पाना असम्भव सा था। इसलिये प्रमुखतः आध्यात्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर और अनिवार्य दिखाई दे, वहाँ अन्य दृष्टियों से वेदार्थ और वेदभाष्य करने में ही वे प्रवृत्त हुए। परन्तु भाष्यभूमिका में यह सुस्पष्ट उल्लेख किया है कि इतने से यह न समझ लेना चाहिये कि वेद का भाष्य उनके अर्थ के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता अथवा किया ही नहीं जा सकता था। दयानन्द अपने भाष्य के माध्यम से तो एक दिशा निर्देश मात्र दे रहे थे ताकि भारत और पश्चिम के विद्वान् सही देख सकें और इस गुरुतर कार्य को अपने सामर्थ्य के अनुसार वहन कर सकें।

वेदों के सबन्ध में दयानन्द की मान्यता

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के अपूर्ण भाष्य के अतिरिक्त वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदसंहिता सम्पूर्ण का भी भाष्य किया है। उससे पूर्व उवट तथा महीधर इस पर भाष्य लिख चुके थे। उवट तथा महीधर का भाष्य प्रमुखतः कात्यायन श्रौतसूत्र में विनियोजित कर्मकाण्ड का अनुसरण करता है। कर्मकाण्डनुसार प्रसिद्ध यज्ञों में से प्रथम-द्वितीय अध्याय में दर्शपौर्णमास, चतुर्थ-अष्टम अध्याय तक अग्निष्टोम, नवम-दशम अध्याय में वाजपेय और राजसूय, २२से२५ अध्याय तक अश्वमेध,, ३०-३१ अध्यायों में पुरुषमेध, ३२वें अध्याय में सर्वमेध और ३५में पितृमेध वर्णित हुआ है। स्वामी दयानन्द का भाष्य इन विनियोगों से स्वतन्त्र है, अथवा यह कहना चाहिये कि उन्होने मंत्रों के अपने ही विनियोग किये हैं, जो अनेक स्थानों पर प्रत्येक मंत्र के प्रारम्भ में दी हुई भूमिका से निःसृत होते हैं।

स्वामी दयानन्द के मत में पूर्वकृत विनियोग कोई ऐसी अटल रेखा नहीं है कि उसका अनुसरण करना अनिवार्य हो। प्राचीन आचार्यों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार मंत्रों के विनियोग किये हैं। कोई अन्य आचार्य इतर किसी विधि में भी उन्हें विनियुक्त कर सकता है। प्राचीनों में सभी आचार्यों ने एक मंत्र का विनियोग एक ही प्रकार से किया हो ऐसी बात नहीं है। एक ने किसी एक विधि में विनियोग किया है, तो दूसरे ने दूसरी विधि में। ऐसा भी नहीं है कि एक आचार्य ने भी एक मन्त्र का एक ही विनियोग किया हो, एक मन्त्र को अनेकत्र

भी विनियुक्त किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि मंत्र का पूर्वकृत विनियोग के साथ कोई नित्य सम्बध नहीं है। दुर्भाग्य से विनियोगों को नित्य समझ लेने के कारण मंत्रार्थ संकुचित होकर रह गये हैं। उदाहरणार्थ यदि कहीं द्विवचनान्त प्रयोग देखकर ऊखल-मूसल को लाने में मंत्र का विनियोग कर दिया गया तो वह मन्त्र उसी विधि के प्रतिपादन तक सीमित मान लिया गया। मन-बुद्धि, आत्मा-परमात्मा, स्त्री-पुरुष राजा-प्रजा गुरु-शिष्य, अध्यापक-उपदेशक आदि परक जो अर्थ लिये जा सकते थे, उन पर रोक लग गयी। यदि कोई मंत्र आसन्दी (कुर्सी) के लिये विनियुक्त हो गया तो उससे वाणी, नारी, राजसभा, आचार्य-पत्नी आदि के जो गुण या कर्त्तव्य सूचित हो सकते थे, वे नहीं लिये जा सकते। किन्तु विनियोग को नित्य न मानने पर उन सब अर्थों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

पूर्व विनियोगों के सम्बन्ध में स्वामी जी की यह सम्मति है कि जो युक्तिसिद्धि एवं वेदादि के प्रमाण के अनुकूल हो तथा जो मंत्रार्थ का अनुसारी हो वह विनियोग ग्राह्य हो सकता है।

साथ ही उनका यह भी कहना है कि वेद केवल कर्मकाण्ड परक नहीं हैं, ज्ञानकाण्ड परक उपासनाकाण्ड तथा विज्ञानकाण्ड परक-अर्थ भी किये जाने चाहियें। पूर्वकृत विनियोग से बंध न जाने के कारण तथा प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं तत्कृत ऐतरेय, शतपथ, निरुक्त आदि का अनुसरण करते हुए स्वतन्त्र बुद्धि से भाष्य करने के कारण स्वामी दयानन्द का भाष्य चतुर्मुखी बन गया है, और उसमें कुछ विशेष प्रकार के विधि-विधान के निर्देशमात्र न रहकर अनेकविध अर्थ स्पष्ट हो सके हैं। संक्षेप में कहें तो उनका भाष्य निम्न विशेषताओं को लिये हुए है।

१– मंत्रों में ईश्वर के स्वरूप, गुण-कर्म स्वभाव आदि का तथा उसकी स्तुति-प्रार्थना, उपासना का विशद तथा विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है

२– स्वामी जी के भाष्य से वेद में अग्नि,इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक देवों की पूजा की भ्रान्ति नहीं होती। इतर भाष्यों में जह अग्नि, वायु, सूर्य आदि से परमेश्वर-भिन्न उन-उनके अभिमानी देवों का ग्रहण किया जाता था, वहाँ स्वामी जी के भाष्य में उन्हें एक परमेश्वर का ही गुणवाची नाम माना गया है।

३– वेदमंत्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक अर्थों की प्रक्रिया ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, निरुक्त आदि से सम्मत थी तथापि भाष्यकारों ने अधिकतर आधिदैविक या कर्मकाण्डपरक अर्थ ही किये थे। स्वामी जी ने अपनी पारमार्थिक और व्यावहारिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत तीनों प्रकार के अर्थ अपने भाष्य में दर्शाए हैं। मंत्रों के कहीं उन्होंने आध्यात्मिक, कहीं अधिदैविक और कहीं आधिभौतिक अर्थ दिये हैं। साथ ही अनेक स्थानों पर एक मंत्र के दो-दो या तीन-तीन अर्थ प्रदर्शित किये हैं। वे श्लेष एवं वाचक-लुप्तोपमा का आश्रय ले कर मंत्रों के एक से अधिक अर्थ प्रायः प्रदर्शित कर देते हैं।

४– स्वामी जी ने वैदिक देवों के स्वरूप पर भी व्यापक दृष्टि से विचार किया है। उनके मत में'अग्नि' से ईश्वर, पार्थिव अग्नि, विद्युत, सूर्य, जाठराग्नि, अग्रणी राजा, सेनापति आदि

विविध अर्थ गृहीत होते हैं। 'उषा' केवल प्राकृतिक उषा नहीं है, किन्तु वह तेजस्विनी नारी का वाचक भी है। 'अश्विनौ' के द्यावा-पृथिवी, सूर्य-चन्द्रमा, अध्यापक-उपदेशक, यजमान-ऋत्विज् सभेश-सेनेश, सुशिक्षित स्त्री,पुरुष, प्राणापान आदि अर्थ करते हैं। 'आप' से उनके मत में केवल प्राकृतिक जल नहीं, किन्तु गुणवती कन्याएं, माताएं, विदुषियाँ, आप्त प्रज्ञाएं, प्राण आदि भी वाच्य हैं। 'आदित्य' केवल सूर्य नहीं है, किन्तु अविनाशी परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण ब्रह्मचारी आदि भी आदित्य कहाते हैं। ,इन्द्र के अर्थ भी परमेश्वर' जीवात्मा, सूर्य, विद्युत्, राजा, सेनापति आदि अनेक होते हैं। 'रुद्र' कैलाश पर्वत पर रहने वाला कोई देवता नहीं, किन्तु पापियों के रोदक तथा सज्जनों के दुःखद्रावक परमेश्वर, जीवात्मा, सेनापति, वैद्य एवं प्राण भी रुद्र हैं। इसी प्रकार वेदोक्त अन्य देवों के अर्थ उनके भाष्य में देखे जा सकते हैं।

५–स्वामी जी के भाष्यानुसार वेदमंत्र केवल सीमित कर्म-काण्ड के ज्ञापक नहीं हैं, किन्तु ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी,, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा, प्रजा, राजपुरुष, गुरु, शिष्य पित, पत्नी, चिकित्सक, शिल्पी, न्यायाधीश आदि सभी के धर्मों और कर्तव्यों का उपदेश उनमें पाया जाता है।

६–स्वामी जी के भाष्य से वेदमंत्रों में अध्यात्मविद्या, योगविद्या, प्राणविद्या भूगोलविद्या, खगोलविद्या, शिल्पविद्या, धनुर्विद्या, गांधर्वविद्या, वाणिज्यविद्या, अध्ययन-अध्यापनविद्या, पशुपालन, कृषि-विद्या, नौविमानादिविद्या, धर्म, ज्योतिष, राजनीति चिकित्साशास्त्र आदि विविध ज्ञानविज्ञान की बातें दृष्टिगोचर होती हैं।

5759

७– स्वामी जी वेदों को सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर द्वारा प्ररित मानते हैं। अतएव उनमें बाद में हुए ऋषियों, राजाओं आदि का इतिहास नहीं मानते। जो ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले ऋषि, राजा, नगरी आदि के नाम वेद में आते हैं, उन्हें वे यौगिक शब्द मानकर उनके इतर अर्थ करते हैं। जैसे यजुर्वेद ३-६२ में 'जमदग्नि' और' कश्यप' नाम आये हैं, जिनका अर्थ वे सप्रमाण क्रमशः चक्षु तथा ईश्वर करते है, जबकि महीधर ने उन्हें ऐतिहासिक मुनि माना है।

८– स्वामी जी के अनुसार पशुबलि, मांसभक्षण आदि अमानवोचित कार्य तथा अश्लील बातें वेदों में नहीं हैं। अतएव भाष्यकरों के उन अर्थो का उन्होंने युक्ति तथा प्रमाण पुरस्सर खण्डन किया है, जिनसे वेद में उपर्युक्त प्रकार की बातें सिद्ध होती हैं, और उन मंत्रों के पवित्र सत्यार्थ का अपने भाष्य में प्रकाश किया है।

अब हम यजुर्वेद के कतिपय प्रसंगों को लेकर कर्म-काण्डपरक भाष्य से स्वामी जी के भाष्य की तुलना करते हैं, जिससे स्वामी जी के भाष्य का गौरव हृदयङ्गम किया जा सके।

वि० वि० गु० कां० हरिद्वार

दर्श पूर्णमास

कर्मकाण्ड के अनुसार यजुर्वेद के प्रथम अध्याय से लेकर द्वितीय अध्याय के २८वें मन्त्र तक दर्शपूर्णमास यज्ञ है। प्रथम अध्याय का प्रथम मन्त्र 'इषे त्वो र्जेत्वा' आदि है। कर्म काण्ड में **'इषे त्वा'** बोलकर अध्वर्यु पलाश की शाखा को काटता हैं - महीधर अर्थ करते हैं–हे शाखे, (इषे) वृष्टि के लिये (त्वा) तुझे काटता हूं। 'ऊर्जेत्वा' बोलकर उस शाखा का संनमन करता है अर्थात् उसे सीधा करके धूल आदि झाड़कर साफ करता है। अर्थ किया है–हे शाखे, (ऊर्जे) बल तथा प्राणदायक वृष्टिरस के लिये (त्वा) तुझे सीधा करके साफ करता हूं। मूल मन्त्र में न पलाश शाखा का कोई उल्लेख है, न ही उसे काटने और सीधा करने या धूल झाड़ने का। यह विनियोगकार की अपनी कल्पना है। अतः इन विधियों का मूल मन्त्र के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् ऐसी बात नहीं है कि इन्ही विधियों को ध्यान में रखकर मन्त्र की रचना हुई है। अतः मन्त्र का इन विधियों से स्वन्तत्र होकर भी अर्थ किया जा सकता है। स्वामी दयानन्द शाखा के स्थान पर परमेश्वर को ग्रहण करते हैं–हे परमेश्वर (इषे) अन्न आदि उत्तम पदार्थों और विज्ञान की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझे विज्ञानस्वरूप का हम आश्रय लेते हैं, (उर्जे) पराक्रम और उत्तम रस की प्राप्ति के लिये (त्वा) अनन्त पराक्रमी तथा रसधनरूप तेरा आश्रय लेते हैं। इसी प्रकरण में छठा मन्त्र इस प्रकार है–

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति
कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति।
कर्मणे वाम् वेषाय वाम्॥

कर्मकाण्ड परक व्याख्या में अध्वर्यु पात्र में जल भर उसे आहवनीयाग्नि के उत्तर में रखता हुआ कहता हैं–"हे पात्र, (कः त्वा युनक्ति) कौन तुझे प्रयुक्त करता अर्थात् आहवनीयाग्नि के उत्तम भाग में स्थापित करता है ? फिर स्वयं उत्तर देता है" स त्वा युनक्ति वह प्रजापित ही तुझे प्रयुक्त करता है। फिर प्रश्न करता है, (कस्मै त्वा युनक्ति) किस प्रयोजन के लिये तुझे प्रयुक्त करता है ? उत्तर देता है, (तस्मै त्वा युनक्ति) उस प्रजापति की प्रीति के लिये तुझे प्रयुक्त करता है। तदनन्तर शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी को ग्रहण करता है (कर्मणे वाम्) यज्ञ कर्म के लिये तुम दोनों को मैं ग्रहण करता 'हूं (वेषाय वाम्)अपने-अपने कर्मों में व्याप्त होने के लिये मैं तुम दोनों को ग्रहण करता हूं ।

यहां भी मूल मन्त्र में न पात्र का नाम है, न ही शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी का। अतः केवल इन्नीं विधियों के लिये मन्त्र की रचना हुई है, यह नहीं कहा जा सकता। स्वामी जी इन विनियोगों से स्वतंत्र होकर यह अभिप्राय लेते है कि इस मन्त्र में मनुष्य, कौन तुझे अच्छी-अच्छी क्रियाओं को कराने की आज्ञा देता हैं ? उत्तर दिया है कि वह जगदीश्वर ही आज्ञा देता है। प्रश्न किया है किस प्रयोजन के लिये ? उत्तर दिया है, सत्यव्रताचरण रूप यज्ञादि के लिये। वाम् इस द्विवचन से वे शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी न लेकर कर्म करने वाला और कर्म कराने वाला एवं अध्येता और अध्यापक का ग्रहण करते हैं। हे कर्म करने वालो, तुम्हें जगदीश्वर ने श्रेष्ठ कर्मों के लिये ही नियुक्त किया है , हे छात्रो और अध्यापको, तुम्हे जगदीश्वर ने सब शुभ गणों एवं विद्याओं में व्याप्ति के लिये नियुक्त किया है ।

कर्मकाण्ड में अगले मन्त्र ने शूर्प तथा अग्निहोत्रहवी को तपाया

जाता है– **प्रत्युष्टं रक्षःप्रत्युष्टा अरातयः**, मन्त्र ७ । अर्थ करते हैं कि इन्हें तपाने से इनमें चिपके हुए जो राक्षस थे वे दग्ध हुए, हविर्दान के बाधक व शत्रु थे वे दग्ध हुए । पुरन्तु स्वामी दयानन्द इस मन्त्र से यह अभिप्राय लेते है **"इदमीश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मष्यैः स्वकीयदुष्टस्वभावं त्यक्त्वाऽन्येषमपि विद्याधर्मोंपदेशेन त्याजयित्वा दुष्टस्वभावान् मनुष्यांश्च निवार्य बहुविधं ज्ञानं सुखं च सम्पाद्यविद्या धर्म-पुरुषार्थान्विताः सुखिनः सर्वे प्राणिनं सदा सम्पादनीयाः ।"** अर्थात् ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों को अपना दुष्ट स्वभाव छोड़कर विद्या और धर्म के उपदेश है से औरों को भी दुष्टता आदि अधर्म के व्यवहारों से अलग करना चाहिए, तथा उनको बहुत प्रकार का ज्ञान और सुख देकर सब मनुष्य आदि प्राणियों को विद्या, धर्म, पुरुषार्थ और नाना प्रकार के सुखों से युक्त करना चाहिए । पाठक देखें कि स्वामी जी का आशय कितना विशाल हो गया है ।

११ वाँ "मन्त्र **भूताय त्वा नारातये**" आदि है । कर्मकाण्ड में यज्ञिय शकट में बचे हुए धान को इस मन्त्र से स्पर्श करते हुए कहते है–"हे धानः ब्राह्मण आदियों को भोजन कराने के लिए तुम्हें बचाया है, अनुदान के लिए नहीं । विधि की भावना तो बहुत सुन्दर है, किन्तु स्वामी जी का अर्थ इससे भी विशाल है । उन्होंने इस मन्त्र के तीन अर्थ किये हैं, । एक यज्ञपरक, दूसरा परमेश्वरपरक, तीसरा भौतिक अग्निपरक, भाव यह लिया है कि हम यज्ञ, परमेश्वर तथा भौतिक अग्नि को सब प्राणियों के सुख के लिए दान आदि धर्म करने के लिये तथा दारिद्र्य आदि दोषों के नाश के लिए ग्रहण करें और भौतिक अग्नि से शिल्पविद्या को भी सिद्ध करें ।

२३ वां मन्त्र **"मा भेर्मा संविक्था'**: आदि है । कर्मकाण्डानुसार परो-

डाश (चावल की पूड़ी) को स्पर्श कर कहते हैं कि–हे पुरोडाश तु भय-भीत मत होना, चंचल मत होना। परन्तु स्वामी जी इसका निम्न अभि-प्राय लेते हैं'–ईश्वरः प्रतिमनुष्यम् आज्ञापति आशीश्च ददाति नैव केनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचार-विद्याग्रहणस्य सकाशाद् भेतव्यं, विचलितव्यम् वा। अर्थात् ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा और आशीर्वाद देता है कि किसी मनुष्य को यज्ञ, सत्याचार और विद्या के ग्रहण से डरना व चलायमान कभी न होना चाहिए। इसी प्रकार इस प्रकरण में अन्यत्र भी स्वामी जी के भाष्य की व्यापकता को देखा जा सकता है।

The Vedas are the Scriptures of true knowledge
(Swami Dayanand Saraswati)

मेरा पूरा विश्वास है कि वेद की संख्या के विषय में महर्षि दयानन्द उसके सच्चे सूत्रों के प्रथम आविष्कर्ता के रूप में सदा समादृत किये जायेंगे, भले ही वेद की सर्वाङ्गपूर्ण व्याख्या कोई भी क्यों न हो। उनका प्रत्यक्षदर्शी चक्षु पुराने अज्ञान और युग-व्यापि भ्रान्ति की अव्यवस्था और अन्धरात्रि को भेदकर सीधे ही सत्य की तह तक पहुंचा और मूल तत्त्व पर जा टिका। उन्होंने उन द्वारों की कुञ्जी प्राप्त की जिन्हें काल ने बन्द कर रखा था और रुद्ध निर्झरों के मुह पर लगी मोहर तोड़ फेंकी।

(अरविन्द)

अग्नीषोमीय पशु-प्रयोग

कर्मकाण्डपरक व्याख्या में षष्ठ अध्याय के मन्त्र ७से२२ तक अग्नीषोमीय पशु का प्रयोग आता है इसमें छाग (बकरे) को देवाताओं के लिए काटा जाता है। प्रथम अध्वर्यु तृण ले उसे पशु के मुख के आगे कर पशु को अभीष्ट स्थान पर ले जाता है। फिर उस पशु को सम्बोधित कर कहता है कि तेरी हवि देवताओं को स्वादिष्ट लगे (मन्त्र ७)। फिर तीन लड़वाली कुशा की रस्सी पशु सींग में बांध वधकर्त्ता के हाथ में पकड़ा देता है (मन्त्र ८) फिर पशु यूप (यज्ञस्तम्भ) में बांधा जाता है उस पर जल छिड़कते हैं (मन्त्र ९) उसके मुख में पानी की बूंदें डालते हैं। ललाट, कंधों तथा श्रोणियों पर घृत लगाते हैं (मन्त्र १०)। तदनन्तर अध्वर्यु छुरे को घृत से लिप्तकर उससे पशु के ललाट को स्पर्श करता है तथा पशु काटा जाता हैं (मन्त्र ११)। फिर यजमानपत्नी कलश के जल से मृत पशु के मुख, नासिका, चक्षु, श्रोत्र आदि अंगों को जल छिड़ककर शुद्ध करती है (मन्त्र १४)। पश्चात् यजमान और अध्वर्यु दोनों कलश में बचे हुए जल से पशु के सिर, मुख आदि अंगो को मन्त्रोच्चारण करते हुए धोते हैं। फिर सब अंगो पर जल छिड़कते हुए कहते हैं कि–"जो पकड़ना, बाँधना, काटना आदि क्रूर व्यवहार हम ने पशु के साथ किया है, वह शान्त हो।" फिर पशु की नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान से तृण बांध, बद्ध स्थान में घी लगाकर छुरे से उदर की त्वचा भेदन करते हैं (मन्त्र १५)।

तब नाभि के अग्रभाग में जो तृण बंधा है, अध्वर्यु बाएं हाथ से उसका अग्रभाग तथा दाहिने हाथ से मूलभाग पकड़ कर उसे दुहरा करके नाभि के रक्त में भिगोता है। फिर कुछ चर्बी ले उसमें घृत मिला कुछ बूंदें आहवनीय अग्नि में डालता है (मन्त्र १६)। पत्नी सहित यजमान और ऋत्विज् सब एकत्र हो जल द्वारा मार्जन करते हैं और जलों से प्रार्थना करुते हैं कि पशुवध रूपी जो पाप हमने किया है उसे दूर करो (मन्त्र १७)। तत्पश्चात् पशु के हृदय को छुरे से काटकर धारापात करता हुआ कहता है कि तेरा मन देवताओं के मन से मिले। फिर मांसपाकपात्र में चर्बी लेकर छुरे से उसे मिलाता है (मन्त्र १८)। उस चर्बी में से कुछ को अग्नि में होम करता है। (मन्त्र १६। तदनन्तर मृत पशु के सब-अंगों को यथायोग्य स्थित करके उन्हें स्पर्श कर कहता है कि इस पशु के अङ्ग में प्राण निहित किया, और पशु को कहता है कि तुम जीवित होकर देवताओं के समीप जाओ (मन्त्र २०)। फिर प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज् पहले से ही पृथक् रखे हुए पशु के पिछले हिस्से को ग्यारह अंशों में बांट कर ''समुद्रं गच्छ स्वाहा'' आदि ग्यारह मन्त्राशों से आहुति देते हैं। (मन्त्र २१)। फिर काटे हुए पशु का हृदय-मांस जिस शलाका पर पकाया था उस शलाका को शुष्क और आर्द्र भूप्रदेश की सन्धि में गाड़ देता अन्त में सब ऋत्विज् और यजमान वरुण से कहते हैं कि आप हमें प्रार्थना भय से मुक्त करें। (मन्त्र २२)

इस कर्मकाण्ड पर पाठक अपनी प्रतिक्रिया स्वयं देखें। तुलना के लिए इस प्रसंग के दो चार मन्त्रों के महीधर कृत तथा स्वामी दयानन्द कृत भाष्य का आशय उपस्थित करते हैं।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । अग्नी-षोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि । अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः । अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ यजुर्वेद ६।९

इस पर महीधर का आशय यह है । 'देवस्य त्वा' से आरम्भ कर नियुनज्मि' पर्यन्त मन्त्र से पशु (बकरे) को यज्ञ स्तम्भ में बांधे । अर्थ किया हैं—हे पशु(सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देव की आज्ञा से (अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्) । अश्विनीकुमारों की भुजाओं से तथा पूषा देव के हाथों से अर्थात् अपनी भुजाओं और हाथों में इन देवों की भुजा-ओं तथा हाथों की भावना करके (अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं) अग्नि-सोम देवताओं के प्रीतिपात्र (त्वा) तुझको (नियुनज्मि) मैं बांधता हूँ । "अद्भ्य, स्त्वा" आदि से उस पशु पर जल छिड़के । अर्थ है—हे पशु (अग्नीषोमाभ्याम् जुष्टं त्वा) अग्नि और सोम देवता के प्रीतिपात्र तुझे (अद्भ्यः ओषधीभ्यः) जलों और ओषधियों से (प्रोक्षामि) सिक्त करके पवित्र करता हूँ । इस प्रकार जलसेचन द्वारा पवित्र हुए (त्वा) तुझे (माता अनुमन्यताम् माता भूमि इस के लिए अनुमति दे, (पिता, अनुमन्यताम्) पिता द्युलोक अनुमति दे, (सगर्भ्यः भ्राता अनुमन्यताम्) तेरा सगा भाई अनुमति दे, (सयूथ्यः सखा अनुमन्यताम्) तेरे साथ एक ही झुण्ड में रहने वाला तेरा साथी अनुमति दे ।

स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मन्त्र उस अवसर का है जब बालक के माता-पिता विद्याध्ययनार्थ उसे गुरुकुल में प्रविष्ट कराने लाये हैं । आचार्य अपने इस नवागत शिष्य को सम्बोधित कर कहता है-हे शिष्य !

समस्त ऐश्वर्ययुक्त, वेदविद्या प्रकाश करने वाले परमेश्वर के उत्पन्न किये हुए इस जगत् में सूर्य और चन्द्रमा के गुणों से व पृथ्वी के हाथों के समान धारण और आकर्षण गुणों से तुझे स्वीकार करता हूँ तथा अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों से प्रीति करते हुए तुझको जो ब्रह्मचर्य धर्म के अनुकूल जल और ओषधि हैं उन जल और गोधूम आदि अन्नादि पदार्थों से नियुक्त करता हूँ। तुझे मेरे समीप रहने के लिए तेरी जननी अनुमोदित करे, पिता अनुमोदित करे, सहोदर भाई अनुमोदित करे, मित्र अनुमोदित करें, और तेरे सहवासी अनुमोदित करें। अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों में प्रीति करते हुए तुझको उन्हीं गुणों से ब्रह्मचर्य के नियम-पालन के लिये अभिषिक्त करता हूँ।"

अब पाठक स्वयं निर्णय करें कि बकरे के यज्ञ में बलि होने का उसके माता-पिता, भाई तथा मित्र अनुमोदन करें, इस में चमत्कार है या विद्याध्ययनार्थ बालक गुरुकुलवास का उसके माता-पिता, भ्राता और मित्र अनुमोदन करें, यह अर्थ चमत्कारजनक है ?

इसी प्रकार के १२ वें मन्त्र में कहा है–',माहिर्भूः मा पृदाकुः।', अर्थ हैं तू' सांप मत बन, तु अजगर मत बन। कर्मकाण्ड के विनियोगानुसार पशु बांधने की रस्सी को दुहरा करके भूमि पर रखते हुए कहते हैं, कि हे रस्सी, तू सर्पाकार या अजगराकार मत होना, नहीं तो तुझे सर्प या अजगर समझ कर भय लगेगा। पर स्वामीदयानन्द के अनुसार यह मन्त्र रस्सी को नहीं किन्तु शिष्य को कहा गया है कि हे शिष्य, तू सर्पादि के समान कुटिलाचरण वाला मत होना। इस मन्त्र का भावार्थ दर्शाते हुए वे लिखते हैं–''केनापि मनुष्येण धर्ममार्गे कुटिल-मार्गगामिसर्पादिवत् कुटिलाचरणेन न

भवितव्यं किन्तु सर्वदा सरलभावेनैव भवितव्यम् ।" अर्थात् किसी मनुष्य को कुटिलमार्गगामी सर्प आदि दुष्ट जीवों के समान धर्म मार्ग में कुटिल न होना चाहिए, किन्तु सर्वदा सरल भाव से ही रहना चाहिए।

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि
चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि
नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि ॥
यजुर्वेद ६।१४

कर्मकाण्ड के अनुसार यजमानपत्नी मृत पशु के समीप बैठ कर इन मन्त्रांशों से उसके मुख, प्राण आदि अंगों का जल का स्पर्श करती हुई शोधन करती है–"हे पशु,मैं तेरे मुख का शोधन करती हूँ, तथा चरित्रों अर्थात् पैरों का शोधन करती हूँ।" पाठक विचार करें, यह कैसा अंग-शोधन हुआ। पहले पशु का वध किया, फिर मृत पशु के अंगों का शोधन किया जा रहा है। पशु के ही अंगों का शोधन करना था, तो जीवित के अंगों का किया जाना चाहिए था।

स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मन्त्र आचार्य द्वारा शिष्य को कहा गया है। वे लिखते हैं–अथ कथं ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्यशिक्षया **स्वस्वान्तेवासिनः सद्गुणेषु प्रकाशयन्तीत्युपदिश्यते**", अर्थात् इस मन्त्र में यह बतलाया है कि गुरुपत्नियों और गुरुजनों को यथायोग्य शिक्षा से अपने-अपने विद्यार्थियों को सद्गुणों में कैसे प्रवृत्त करना चाहिए।

मंत्रार्थ किया है–"हे शिष्य, मैं विविध शिक्षाओं से तेरी वाणी को शुद्ध अर्थात् सद्धर्मानुकूल करता हूँ। तेरे नेत्र को शुद्ध करता हूँ। तेरी नाभि को पवित्र करता हूँ। तेरे लिङ्ग को पवित्र करता हूँ। गुदेन्द्रिय को पवित्र करता हूँ समस्त व्यवहारों को पवित्र, शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूँ। तथा गुरुपत्नी पक्ष में सर्वत्र 'करती हूँ' यह योजना करनी चाहिए। पुनः भावर्थ में लिखते हैं–"**गुरुभिर्गुरुपत्नीभिश्च वेदोपवेदवेदाङ्गोपाङ्गशिक्षया देहेन्द्रियान्तःकरणात्ममनःशुद्धिशरीरपुष्टिप्राणसंतुष्टीः प्रदाय सर्वे कुमाराः सर्वा कन्याश्च सद्गुणेषु प्रवर्तयितव्या इति।**" अर्थात् गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिए कि वेद और उपवेद तथा वेद के अंग और उपाङ्गों की शिक्षा से देह, इन्द्रिय अन्तःकरण और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की सन्तुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्त करावें। अगला मन्त्र इस प्रकार है–

मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां
प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां
यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्र आप्यायतां
तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः।
ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः॥

यजुर्वेद ६।१५

महीधर की कर्मकाण्डी व्याख्यानुसार इस मन्त्र में पाँच विधियाँ वर्णित हैं– (१) प्रथम अध्वर्यु तथा यजमानपत्नी पात्र में बचे हुए ल से मृत पशु के सिर आदि अंगों को धोते हुए कहें–हे पशु, (ते मनः

आप्यायताम्) तेरा मन अर्थात् सिर शान्त हो, (ते वाक् आप्यायताम्) तेरा मुख शान्त हो,(ते प्राण:आप्यायताम्) तेरी नासिका शान्त हो, (ते चक्षु: आप्यायताम्) तेरी आंखें शांत हों, (ते श्रोत्रम् आप्यायताम्) तेरे कान शान्त हों ।

(२) फिर एक साथ अवशिष्ट सब अंगों पर जल सिंचन करे–हे पशु (यत् ते क्रूरम्) जो तेरे प्रति बंधन, निरोध आदि क्रूर कार्य हमने किया है (यत् आस्थितम्) और जो छेदनकर्त्ता ने छेदन आदि कर्म किया है (तत् ते आप्यायताम्) वह तेरा सब शान्त होवे, (निष्ट्यायताम्) संहत होवे अथवा दोषशून्य होवे (तत् ते शुध्यतु) वह तेरा सब शुद्ध होवे ।

(३)फिर अवशिष्ट जल से पशु के जघन-प्रदेश में सिंचन करे–(अहोभ्य:) सब दिनों में (शम्) हमें तथा पशु को सुख प्राप्त हो ।

(४) फिर पशु को उत्तान लिटाकर नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान से तृण बंधन करे–(ओषधे) हे ओषधे, तू इस पशु की (त्रायस्व)रक्षा कर ।

(५)फिर घृताक्त असिधारा को तृण के ऊपर रख चुपचाप तृण सहित उदर की त्वचा को छेदन करे–(स्वधिते)हे खड्ग,(एनम्) इस पशु को (मा हिंसी:) मत मार ।

यहाँ पाँचों विधियाँ विचारणीय हैं । प्रथम–जब पशु के अंगों का हमने निर्दयतापूर्वक छेदन कर दिया, तब उसके मन प्राण आदि के शान्त होने की प्रार्थना व्यर्थ है । दूसरी विधि करते हुए कहा है, कि पशु, जो तेरा बंधन, छेदन आदि क्रूर कर्म हमने किया है वह शान्त हो । जब हम स्वयं समझ रहे हैं कि यह कर्म क्रूर है, तब उसे किया ही क्यों और अब कर चुकने के पश्चात् उसकी शान्ति कराने का भी क्या अभिप्राय ?

तीसरी विधि करते हुए कहते हैं कि हमें या इस पशु को सुख प्राप्त हो। पशु की जब हमने हत्या कर दी तब भला उसे सुख कैसे प्राप्त होगा ? और पशुमारण रूपी क्रूर कर्म करने-कराने वाले हम भी सुख के अधिकारी क्यों कर हो सकते हैं ? चौथी विधि में पशु का पेट फाड़कर चर्बी निकालने की तैयारी में हम उनकी नाभि के अग्रभाग में तृण बांधते हैं, और प्रार्थना उल्टी करते हैं कि हे ओषधि, तू इस पशु की रक्षा कर। रक्षा का मंत्र बोलना है तो हमें रक्षा ही करनी चाहिये, न कि हिंसा। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" की दुहाई देना एक बहाना मात्र है। पाँचवीं विधि में भी उसी प्रकार की क्रिया करते हैं छुरे से पेट को फाड़ने की और प्रार्थना करते हैं कि छुरे, तू पशु की हिंसा मत कर। यह सब विधि-विधान कहाँ तक संगत है ? यह पाठक स्वयं विचारें। यदि घास-फूस, ओषधियों आदि का कृत्रिम पशु बनाया जाता और 'मनुष्य के अन्दर जो पशुत्व रहता है उसे नष्ट करना है' इसके प्रतीक रूप में उस पशु को काटा जाता या होम किया जाता, तब भी कदाचित् विधि की चरितार्थता हो सकती थी। किन्तु यहाँ तो जीवित पशु की बलि दी जाती है।

अब स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित इस मन्त्र का अर्थ देखिये। वे लिखते हैं—"हे शिष्य ! **मदीयशिक्षणेन ते तव मनः आप्यायताम्, ते प्राणः आप्यायताम् ते श्रोत्रं आप्यायताम् ते यत् क्रूरं दुश्चरित्रं तत् निष्ट्यायतां दूरीगच्छतु। यत् ते तव आस्थितं निश्चितं तद् आप्यायताम्। इत्थं ते सर्वं शुध्यतु। अहोभ्यो दिनेभ्यः तुभ्यं शम् अस्तु। अथस्वस्वामिनी शिष्यालालनापरं गुरुपत्नी वाक्यं हे ओषधे, विज्ञप्रवराध्यापक, त्वमेनं शिष्यं त्रायस्व मा हिंसीः। स च स्वपत्नीं प्रत्याह—हे स्वधितेऽध्यापिके स्त्रि ! त्वमेनां त्रायस्व मा**

हिंसीश्च ।" अर्थात् गुरु को शिष्य कहता है—हे शिष्य, मेरी शिक्षा से तेरा मन पर्याप्त गुणयुक्त हो। तेरा प्राण, बलादि गुणयुक्त हो। तेरी आँख निर्मल दृष्टि वाली हो। तेरा कर्ण सद्गुणव्याप्त हो। तेरा जो दुष्ट व्यवहार है, वह दूर हो। और जो तेरा निश्चय है वह पूरा हो। इस प्रकार से तेरा समस्त व्यवहार शुद्ध हो और प्रतिदिन तेरे लिये सुख हो। गुरुपत्नी अपने पति से कहती है—'हे प्रवर अध्यापक! आप इस शिष्य की रक्षा कीजिये और व्यर्थ ताड़ना मत कीजिये।" गुरु अपनी पत्नी से कहता है—"हे प्रशस्त अध्यापिके! तू इस कुमारिका शिष्या की रक्षा कर और इसको ताड़ना मत दे"

पाठक दोनों अर्थों की तुलना करें। हमने इस प्रकरण के कुछ ही मन्त्रों को लिया है। अन्य मंत्रों के भी अर्थ महीधर तथा स्वामी जी के भाष्य से मिलान किये जा सकते हैं।

रुद्राध्याय

यजुर्वेद का १६वां अध्याय रुद्राध्याय कहलाता है, जिसमें ६६ मन्त्र हैं। इसके आधार पर शतरुद्रिय होम कल्पित किया गया है। उवट एवं महीधर के अनुसार इसमें उस रुद्र देवता से प्रार्थना की गई है, जो कैलाश पर्वत पर निवास करता है, जिसके हाथ में बाण हैं, जो नीलग्रीव तथा जटाजूटधारी (कपर्दी) है। मन्त्र १७ से ४६ तक रुद्र के विभिन्न रूपों को नमस्कार किया गया है, जिनमें जहाँ वह अनेक उत्कृष्ट रूपों में वर्णित हुआ है, वहाँ साथ ही ठग, चोर, लुटेरे, तस्कर आदि रूपों में भी उसका वर्णन किया गया है। ऐसा क्यों है? इसका समाधान महीधर यह देते हैं कि रुद्र ही लीला से चोर आदि का रूप धारण कर लेता है, अथवा क्योंकि रुद्र जगदात्मक है अतः

चोर आदि भी रुद्र समझने चाहियें, अथवा चोर आदि के शरीर में रुद्र जीवरूप में तथा ईश्वररूप में दो प्रकार से अवस्थित होता है। उसमें जीवरूप स्तेन आदि शब्द का वाच्य हैं, और ईश्वररूप लक्ष्यार्थ है।

दूसरी ओर स्वामी दयानन्द ने इस अध्याय के भाष्य में एक आदर्श राष्ट्र का चित्र खींचा है। उनके अनुसार राजा या सेनापति रुद्र है, क्योंकि वह शत्रुओं को रुलाता है, उसके अधीन विभिन्न दिशाओं में नियुक्त शत्रुरोदक अन्य शूरवीर भी रुद्र हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे शत्रुओं को जीतें, तथा स्वपक्ष के लोगों को उन्नत करें। जिन्हें 'नमः' कहा गया है, वे राष्ट्र में रहने वाले अनेक व्यक्ति हैं। 'नमः' पद का अर्थ स्वामी जी ने यथायोग्य अन्न, वज्र या सत्कार किया है, जो वैदिककोष निघण्टु से अनुमोदित है। जो उपकारी स्वामी, सेवक, अध्यक्ष आदि हैं, उन्हें उनका पारिश्रमिक अन्न, धन एवं सत्कार प्राप्त होना चाहिये तथा जो चोर, लुटेरे आदि हैं उन पर वज्र-प्रहार होना चाहिये और जो शासक लोग हैं उनके हाथ में वज्र दिया जाना चाहिये। जैसे—

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्यै (मन्त्र १७)—ज्योति के समान तीव्र तेजयुक्त भुजा वाले सेना के शिक्षक को वज्र प्राप्त हो।

पशूनां पतये नमः (मन्त्र १७)—गौ आदि पशुओं के रक्षक के लिये सत्कार प्राप्त हो।

नमो मन्त्रिणे वाणिज्याय (मन्त्र १९)—विचार करने हारे राजमन्त्री और वैश्यों के व्यवहार में कुशल पुरुष का सत्कार किया जाये।

नमः उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते (मन्त्र १९)—ऊँचे स्वर में बोलने वाले तथा दुष्टों को रुलाने वाले न्यायाधीश का सत्कार करें।

नमो वञ्चते परिवञ्चते (मन्त्र २१)—छल से दूसरों के पदार्थों को हरने वाले, सब प्रकार के कपट के साथ वर्तमान पुरुष को वज्रप्रहार प्राप्त हो।

स्तायूनां पतये नमः (मन्त्र २१)—चोरी से जीने वालों के स्वामी को वज्र से मारें।

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमः (मन्त्र २७)—पदार्थों की सूक्ष्म क्रिया से बनाने वाले तुमको अन्न देते हैं और बहुत से बिमानादि यानों को बनाने वाले तुम लोगों का परिश्रमादि का धन देकर सत्कार करते हैं।

नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः (मन्त्र २७)—प्रशंसित मिट्टी के पात्र बनाने वालों को अन्नादि पदार्थ देते हैं और खड्ग, बन्दूक, तोप आदि शस्त्र बनाने वाले तुम लोगों का सत्कार करते हैं।

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च (मन्त्र २९)—गृहस्थ लोगों को चाहिये कि जटाधारी ब्रह्मचारी और समस्त केश मुंडाने हारे सन्यासी को अन्न देवें।

नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च (मन्त्र २९)—असंख्य शास्त्र के बिषयादि को देखने वाले विद्वान् ब्राह्मण का और धनुष आदि असंख्य शस्त्रविद्याओं के शिक्षक क्षत्रिय का सत्कार करें।

नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च (मन्त्र २९)—पर्वतों के आश्रय से सोने हारे वानप्रस्थ का और पशुओं के पालक वैश्य आदि का सत्कार करें।

अश्वमेध

कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार यजुर्वेद के २२वें से २५वें अध्याय तक अश्वमेध–यज्ञ वर्णित हुआ है। वह यज्ञ बहुत विस्तृत है, तथापि उसकी संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत करते हैं। अश्वमेध का अधिकार अभिषिक्त राजा को ही है। वह अपनी चार पत्नियों महिषी, वावाता (वल्लभा), परिवृक्ता (अवल्लभा) और पालागली (दूतपुत्री) को साथ लेकर यज्ञ आरम्भ करता है। चारों पत्नियों के साथ उनकी सौ-सौ अनुचरियाँ होती हैं। राजा चारों ऋत्विज् होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा उद्गाता का वरण करता है। एक ऐसा घोड़ा लाया जाता है, जिसका अगला हिस्सा काला और पिछला सफेद हो, ललाट पर शकटाकार तिलक बना हो, जो बहुत मूल्यवान्, अति वेगवान् और ऐसा अद्वितीय हो जिसकी जोट का दूसरा न मिलता हो। अध्वर्यु ब्रह्मा से अनुमति पाकर रस्सी से घोड़े को बांधता है। उस घोड़े को तालाब के स्थावर जल के बीच ले जाकर स्नान कराता है। वहीं आयोगव पुरुष (शूद्र और वेश्या की सन्तान) के हाथ से एक चार आँखों वाले (अर्थात् जिसकी दो आँखें तथा उनके ऊपर दो आँख जैसे चिह्न हों ऐसे) कुत्ते को मूसल से मरवा कर बेत की चटाई पर रख "परो मर्तः परः श्वा, यजु० २२-५" का पाठ कर घोड़े के नीचे से तालाब में प्रवाहित कर देता है। वहाँ से वह घोड़े को अग्नि के समीप ला अग्नि में आहुतियाँ देता है।

इसके पश्चात् अध्वर्यु तथा यजमान घोड़े को विहार करने के लिये अन्य १०० घोड़ों के साथ ईशान दिशा में छोड़ देते हैं। साथ में कवच, खड्ग, दण्ड आदि लिये हुए ४०० सैनिक रक्षार्थ भेजे जाते हैं। उन्हें आदेश दिया जाता है कि वे एक वर्ष तक घोड़े का भ्रमण कराते

रहें और दिग्विजय करके लौटें। एक वर्ष के पश्चात् जब घोड़ा लौट कर आता है तब अन्य तीन घोड़ों सहित उसे एक रथ में नियुक्त कर अध्वर्यु और यजमान रथ में बैठ, तालाब पर ले जाकर, घोड़ों को जल में प्रविष्ट कराते हैं। वहाँ से घोड़ों को देवयजन स्थान में लाते हैं और उस समय महिषी, वावाता तथा परिवृक्ता ये तीनों पत्नियाँ क्रमशः घोड़े के अगले, बीच के तथा पिछले शरीर की मालिश करती हैं। फिर वे ही तीनों उस घोड़े के सिर तथा पुंछ में १०१-१०१ सौवर्ण मणियाँ बांधती हैं। इसके बाद ब्रह्मा और होता "कः स्विदेकाकी चरति" आदि यजुर्वेद २३-९-१२ इन चार मन्त्रों से परस्पर प्रश्नोत्तर करते हैं। इसके बाद पशुओं को यूप में बांधा जाता है। २१ यूप होते हैं, जिनमें बीच के अग्निष्ठ यूप में १७ पशु तथा शेष यूपों में से प्रत्येक में १६-१६ पशु बांधे जाते हैं। ये सब ग्राम्य पशु होते हैं, जिनका बाद में वध करना होता है। इन २१ यूपों के मध्य में जो २० अवकाश होते हैं उनमें से प्रत्येक में कपिञ्जल आदि १३-१३ आरण्य प्राणी अवस्थित किये जाते हैं। इनका वध अभीष्ट नहीं होता, किन्तु इन्हें बाद में इन-इनके देवताओं के उद्देश्य से उत्सर्ग कर छोड़ दिया जाता है। तत्पश्चात् दरी चादर बिछा, उस सुवर्ण रख घोड़े का संज्ञपन (वध) किया जाता है। राजपत्नियाँ उस मृत घोड़े की तीन-तीन परिक्रमाएं करती हैं। फिर पत्नियाँ, अध्वर्यु और यजमान मिलकर मृत घोड़े का प्राणशोधन करते है। प्राणशोधन के अनन्तर महिषी घोड़े के पास लेट जाती है। अध्वर्यु महिषी तथा घोड़े को चादर से ढक देता है। महिषी मृत घोड़े के लिंग को खींचकर अपनी योनि में डालती है और कहती है कि यह घोड़ा मुझ में वीर्य का आधान करे।

इसके अनन्तर अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि कुमारी एवं राजपत्नियों से अश्लील हास-परिहास करते हैं, और वे भी अपनी-अपनी अनुचरियों

सहित उन्हें वैसा ही अश्लील उत्तर देती है। फिर अध्वर्यु आदि घोड़े के पास लेटी हुई महिषी को वहाँ से उठा कर लाते हैं। महिषी आदि तीनों राजपत्नियाँ तांबे, चाँदी और सोने की सुइयों से मृत घोड़े के शरीर को छेदकर जर्जर करती हैं, जिससे तलवार उसके शरीर में आसानी से प्रविष्ट हो सके। फिर घोड़े के पेट को काटकर उसमें से होम के लिये चर्बी निकाली जाती है। यूपों में बधे अन्य पशुओं को भी काटा जाता है और चर्बी, रक्त तथा शूल पर पकाये हुए मांस का होम किया जाता है। अन्त में राजपत्नियों की जो सौ-सौ अनुचरियाँ थी, उन्हें ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को दक्षिणा में दे दिया जाता है। कर्म-काण्डियों का विश्वास है कि घोड़ा पुनर्जीवित हो स्वर्ग चला जाता है।

स्वामी दयानन्द अश्वमेध के इस रूप से सहमत नहीं हैं, न ही इसे वेद व शतपथ ब्राह्मण के अनुकूल समझते हैं। वे "राष्ट्रं वा अश्वमेधः" यह शतपथ का प्रमाण देते हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के राजप्रजाधर्म विषय में लिखते हैं कि "राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणाम् अश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति, नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति," अर्थात् राष्ट्र का पालन करना ही क्षत्रियों का अश्वमेध यज्ञ है, घोड़े को मारकर उसके अङ्गों को होम करना नहीं। सत्यार्थप्रकाश के एका-दश समुल्लास में इस सम्बन्ध में निम्न प्रश्नोत्तर आये हैं।

प्रश्न—यज्ञकर्त्ता कहते हैं कि यज्ञ करने से यजमान और पशु स्वर्गगामी तथा होम करके फिर पशु को जीवित करते थे, यह बात सच्ची है या नहीं ?

उत्तर– नहीं, जो स्वर्ग को जाते हो तो ऐसी बात कहने वाले को मारके होम कर स्वर्ग में पहुचाना चाहिये वा उसके प्रिय माता,

पिता, स्त्री और पुत्रादि को मार होम कर स्वर्ग में क्यों नहीं पहुँचाते ? वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जिला लेते हैं ?

प्रश्न—जब यज्ञ करते हैं तब वेदों के मन्त्र पढ़ते हैं। जो वेदों में न होता तो कहाँ से पढ़ते ?

उत्तर—मन्त्र किसी को कहीं पढ़ने से नहीं रोकता, क्योंकि वह एक शब्द है। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पशु को मार के होम करना चाहिये।

अश्वमेध प्रसङ्ग में आने वाले २६वें अध्याय के १६ से ३१ तक के मन्त्रों का महीधरकृत अर्थ अत्यन्त अश्लील है, जिसे लिखते हुए भी लज्जा अनुभव होती है। स्वयं महीधर भी उसे वैसा ही समझते हैं। अतएव उसके बाद ३२वें मन्त्र का अर्थ वे करते हैं कि 'अश्व के संस्कार के लिये जो हमने अश्लील भाषण किया है और उससे जो हमारे मुख दुर्गन्धित हो गये हैं उन्हें यह यज्ञ पुनः सुगन्धित कर देवे'। यदि मुख दुर्गन्धित होने की चिन्ता थी तो अश्लील अर्थ किया ही क्यों ? वस्तुतः न उन मन्त्रों का अर्थ अश्लील है, न ही इस ३२वें मन्त्र का यह अभिप्राय है जो महीधर ले रहे हैं। स्वामी जी ने अपनी ऋग्वेदादि–भाष्यभूमिका के भाष्यकरणशंकासमाधानादि विषय में उक्त मन्त्रों के महीधरकृत अर्थ देकर फिर शतपथ के वाक्य उद्धृत करते हुए उनके सत्यार्थ प्रकाशित किये हैं। उन्हें पाठक वहीं देखें। स्वामी जी के यजुर्वेद भाष्य में भी उक्त मन्त्रों का भाष्य देखना चाहिये। नीचे हम तुलना के लिये अश्वमेध प्रकरण के कुछ इतर मन्त्रों का कर्मकाण्डिक अर्थ तथा स्वामी जी का अर्थ देते हैं।

ऊपर अश्वमेध की विधि में हम देख चुके है कि घोड़े को काटने के पश्चात् राजमहिषी मृत घोड़े के पास लेट जाती है। उस

प्रसङ्ग का यह मन्त्र है—

> प्राणाय स्वाहा अपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा ।
> अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन ।
> ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥
>
> यजुर्वेद २३/१८ ॥

महीधर के अनुसार 'प्राणाय स्वाहा' आदि से मृत अश्व का प्राणशोधन करते हैं। फिर घोड़े के पास लेटी हुई महिषी से ईर्ष्या करती हुई अन्य राजपत्नियाँ परस्पर कहती हैं कि अरी अम्बे, अरी अम्बिके, अरी अम्बालिके ! मुझे तो उस घोड़े के पास कोई ले ही नहीं जाता। वह दुष्ट घोड़ा तो काम्पीलनगरवासिनी उस दुष्टा सुन्दरी सुभद्रा के पास लेटा हुआ है। पाठक सोचेंगे यह यज्ञ हो रहा है या तमाशा। अब **स्वामी दयानन्द** का अर्थ देखिये। उन्होंने 'अश्वकः' का अर्थ अश्व के समान शीघ्रगामी जन, 'सुभद्रिका' का अर्थ सुष्ठु, कल्याण-कारिणी तथा 'काम्पीलवासिनी, का अर्थ लक्ष्मी किया है—"अश्वकः अश्व इव गन्ता जनः, सुभद्रिकां सुष्ठुकल्याणकारिकां, काम्पलीवासिनीं कं सुखं पीलति बध्नाति गृह्णातीति कम्पीलः स्वार्थेऽण् तं वासयितुं शीलमस्यास्तां लक्ष्मीम्" । सम्पूर्ण मन्त्र का अभिप्राय यह लिया है कि हे माता, हे दादी, हे परदादी ! जिस लक्ष्मी को पाकर अश्व के समान शीघ्रगामी मनुष्य भी सो जाता है, निरुद्यमी हो जाता है, यह लक्ष्मी मुझे वश में नहीं करती है, अतः मैं तो प्राण, अपान और व्यान के लिये स्वाहा करता हूँ, अर्थात् पुरुषार्थी होता हूँ। भावार्थ में लिखते हैं—'धनस्य स्वभावोऽस्ति यत्रेदं सञ्चीयते तान् निद्रालून् अलसान् कर्महीनान् करोति। अतो धनं प्राप्यापि पुरुषार्थ एव कर्त्तव्यः", अर्थात् धन का स्वभाव है कि जहाँ वह इकट्ठा होता है उन जनों को निद्रालु,

आलसी और कर्महीन कर देता है, इससे धन पाकर भी मनुष्य को पुरुषार्थ ही करना चाहिए ।

कर्मकाण्ड में २३वें अध्याय के ३३ से ३८ मन्त्र तक राजपत्नियाँ मृत घोड़े के अङ्गों को लोहे, चांदी और सोने की सूइयों से छेद-छेद कर जर्जर करती हैं। मन्त्र है—

गायत्री त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुप् पङ्क्त्या सह ।
बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥

यजुर्वेद २३/३३ ॥

इसका महीधरकृत अर्थ है—"हे अश्व ! गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, पङ्क्त्या सह बृहती, उष्णिहा सह ककुप् एतानि छन्दांसि सूचीभिरेताभिः त्वां शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु ।.... असिपथार्थं त्वग्भेदनं संस्कारः"। अर्थात् हे घोड़े ! गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पंक्ति सहित बृहती, उष्णिक् सहित ककुप् ये छन्द इन सूइयों से तेरा संस्कार करें। संस्कार का अभिप्राय है त्वचा को भेदना, जिससे तलवार घुसने का मार्ग बन सके। परन्तु स्वामी जी इस मन्त्र में घोड़े को सम्बोधन न मानकर मनुष्य को सम्बोधन मानते हैं और यह अर्थ लेते हैं कि हे मनुष्यो, गायत्री त्रिष्टुप् आदि छन्दों वाले वेदमन्त्र तुम्हारे आपस के मतभेदों को उसी प्रकार सी दें जैसे सूइयों से वस्त्र को सिया जाता है। इस मन्त्र के भावार्थ में वे लिखते हैं—"ये विद्वांसो गायत्र्यादिच्छन्दोऽर्थ-विज्ञापनेन मनुष्यान् विदुषः कुर्वन्ति सूच्या छिन्नं वस्त्रमिव भिन्नमतान्य-नुसंधति एकमत्ये स्थापयन्ति ते जगत्कल्याणकारका भवन्ति ।" अर्थात् जो विद्वान् गायत्री आदि छन्दों के अर्थ को बताने से मनुष्यों को विद्वान् करते हैं और सूई से फटे वस्त्रों को सीवें त्यों अलग-अलग मत

वालों को सख्य में मिलाप कर देते हैं और उनको एक मत में स्थापन करते हैं, वे जगत् के कल्याण करने वाले होते हैं।

३६वें मन्त्र का पूर्वार्ध है—"**नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया।**" महीधर इसका अर्थ करते हैं कि हे घोड़े! महिषी आदि राजपत्नियाँ मन से विचारकर तेरे शरीर के बालों को नोचें—"हे अश्व, नार्यः नृणामपत्यानि स्त्रियः ते तव लोम रोमाणि मनीषिया मनसः इच्छया विचार्यं विचिन्वन्तु पृथक् कुर्वन्तु। ······· कीदृश्यो नार्यः ? पत्न्यः यजमानभार्या महिष्याद्या इत्यर्थः।" परन्तु स्वामी जी घोड़े के स्थान पर विदुषी अध्यापिका को सम्बोधन कर अर्थ करते हैं कि कुमारियाँ, तीक्ष्ण बुद्धि से आपकी अनुकूल आज्ञा को एकत्र करें—"नार्यः नराणां स्त्रियः ते तव पत्न्यः स्त्रियः लोम अनुकूलं वचनं विचिन्वन्तु संचितं कुर्वन्तु मनीषया मनस ईषणकर्त्र्या प्रज्ञया·········। हे विदुष्यध्यापिके, कुमार्यो मनीषया ते लोम विचिन्वन्तु।"

अब जिन मन्त्रों से चर्बी निकालने के लिये घोड़े का पेट फाड़ा जाता है उनमें से एक मन्त्र लेते हैं।

कस्त्वाऽऽच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति
कस्ते गात्राणि शम्यति।
क उ ते शमिता कविः॥ यजुर्वेद २२/३९॥

महीधर के अनुसार घोड़े का पेट फाड़ने वाला कह रहा है कि "हे घोड़े! प्रजापति तुझे काट रहा है (मैं नहीं), प्रजापति ही तेरी खाल अलग कर रहा है (मैं नहीं), प्रजापति ही तेरे अङ्गों को काट कर हविर्भाव को प्राप्त करा रहा है (मैं नहीं), वह मेधावी प्रजापति ही तेरा शमिता अर्थात् वध करने वाला है (मैं नहीं)।" पाठक देखिये, अपना

पाप कैसी कुशलता से प्रजापति के ऊपर आरोपित किया जा रहा है ! स्वामी जी ने इस मन्त्र का निम्न भावार्थ लिखा है—"अध्यापका अध्येतृन् प्रत्येकं परीक्षायां पृच्छेयुः। के युष्माकमध्ययनं छिन्दन्ति ? के युष्मानध्ययनाय उपदिशन्ति ? केऽङ्गानां शुद्धियोग्यां चेष्टां च ज्ञापयन्ति ? कोऽध्यापकोऽस्ति ? किमधीतम् ? किमध्येतव्यमस्तीत्यादि पृष्ट्वा सुपरीक्ष्य, उत्तमानुत्साह्य अधमान् धिक् कृत्वा विद्यामुन्नयेयुः।" अर्थात् अध्यापक लोग पढ़ने वालों के प्रति परीक्षा में ऐसे पूछें कि कौन तुम्हारे पढ़ने को काटते अर्थात् पढ़ने में विघ्न करते हैं ? कौन तुमको पढ़ने के लिये उपदेश देते हैं ? कौन अङ्गों की शुद्धि और योग्य चेष्टा को जनाते हैं ? कौन पढ़ाने वाला है ? क्या पढ़ा ? क्या पढ़ने योग्य है ? ऐसे-ऐसे पूछ, उत्तम परीक्षा कर, उत्तम विद्यार्थियों को उत्साह देकर, दुष्ट स्वभाव वालों को धिक्कार देकर विद्या की उन्नति करावें।

२४वें अध्याय में कुछ पशु, कुछ जलचर जीव और कुछ पक्षी परिगणित किये गये हैं। कर्मकाण्ड के अनुसार जैसा पहले उल्लेख कर चुके हैं, ग्राम्य पशुओं को जो संख्या में ३२७ बैठते हैं, २१ यूपों में बांधा जाता है, २६० आरण्य जीवों को भी बांधा जाता है, किन्तु इतना अन्तर है कि उन्हें बिना मारे देवताओं के नाम पर छोड़ दिया जाता है। परन्तु **स्वामी दयानन्द** इन सब इन्द्रजाल में नहीं पड़ते। उनका कथन है कि यह जन्तुओं का परिगणन इस दृष्टि से किया गया है कि मनुष्य उनसे यथायोग्य उपकार लेवें। प्रथम मन्त्र में विषय प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

"अथ मनुष्यैः पशुभ्यः कीदृश उपकारो ग्राह्य इत्याह" अर्थात् मनुष्यों को पशुओं से कैसा उपकार लेना चाहिये ? इस विषय का यहाँ वर्णन किया जाता है। पुनः १५वें मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं—"ये

नानादेशसंचारिणः प्राणिनः सन्ति तैर्मनुष्या यथायोग्यानुपकारान् गृह्णीयुः" अर्थात् जो नाना देशों में विहार करने वाले प्राणी हैं, उनसे मनुष्य यथायोग्य उपकार लें। पशुओं के साथ जो एक-एक देवता का मन्त्रों में उल्लेख है उसका अभिप्राय कर्मकाण्डी यह लेते हैं कि उस-उस देवता की तृप्ति के लिये उस-उस पशु का वध या उत्सर्ग किया जाता है। परन्तु स्वामी जी १९वें मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं कि "या यस्य पशोर्देवता उक्ता स तद्गुणो ग्राह्यः", अर्थात् मन्त्र में जो-जो जिस पशु का देवता कहा गया है, उस पशु को उस गुण वाला समझना चाहिये। एवं अश्वमेध सम्बन्धी सारे प्रकरण की व्याख्या में स्वामी जी की दिव्य दृष्टि सर्वत्र दिखाई देती है।

पुरुषमेध

कर्मकाण्ड में अध्याय ३० तथा ३१ पुरुषमेधपरक हैं। ३०वें अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि १८४ प्रकार के पुरुषों का वर्णन है। इससे विधि यह कल्पित की गई है कि इस यज्ञ में ११ यूप गाड़े जाते हैं। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' आदि प्रथम ४८ मन्त्र भागों से मध्य के अनिष्ठ यूप में एक-एक कर ४८ पुरुष बांधें जाते हैं। शेष १० यूपों में अगले ११-११ मन्त्र भागों में से अवशिष्ट मन्त्रभागों में प्रत्येक में ११-११ पुरुषों को बांधते हैं। अन्त में अवशिष्ट मन्त्रभागों से अवशिष्ट २६ पुरुष द्वितीय यूप में और बाँध दिये जाते हैं। इस प्रकार १८४ की संख्या पूर्ण की जाती है। 'ब्रह्मदेवता की तृप्ति के लिये मैं ब्राह्मण को बांधता हूं' इत्यादि प्रकार से प्रत्येक पुरुष के साथ जिस-जिस देवता का मन्त्र में उल्लेख है, उस-उस देवता की तृप्ति के लिये पुरुष को बांधा जाता है। सब पुरुषों के बंध जाने के उपरान्त ३१वें अध्याय 'सहस्र-शीर्षा पुरुषः' आदि से उनकी स्तुति की जाती है। फिर जिस क्रम से

बांधा गया था उसी क्रम से उन-उन देवताओं के नाम पर प्रत्येक को बन्धनमुक्त कर दिया जाता है। कुछ का विश्वास है कि किसी समय इन बद्ध पुरुषों का अग्नि में होम किया जाता था, एवं नरबलि की प्रथा प्रचलित थी। शतपथब्राह्मणकार को यह नृशंस प्रथा सह्य नहीं हुई, अतः उन्होंने कहा कि बलि न दी जाय, किन्तु उस-उस देवता के नाम पर बद्ध पुरुषों को मुक्त कर दिया जाये। तब से पुरुषों की बलि न देकर उन्हें बन्धन-मुक्त किया जाने लगा।

स्वामी दयानन्द के अनुसार न पुरुषों को बद्ध करने की आवश्यकता है, न बलि देने की। ३०वें अध्याय में जो पुरुष तथा स्त्रियाँ परिगणित किये गये हैं, उनमें से कुछ उत्कृष्ट हैं तथा कुछ निकृष्ट। उनके साथ एक-एक गुण या दोष का भी उल्लेख है। राजा का कर्त्तव्य बताते हुए उसे कहा जाता है कि अमुक सद्गुण प्रचार के लिये अमुक-अमुक गुणों वाले पुरुष या स्त्री को आप राष्ट्र में उत्पन्न कीजिये या नियुक्त कीजिये, और अमुक-अमुक दुष्ट आचरण करने वाले अमुक-अमुक प्रकार के पुरुष या स्त्री को आप दूर कीजिये। उदाहरणार्थ स्वामी जी के भाष्य में कुछ मन्त्रभागों के अर्थ निम्न हैं।

ब्रह्मणे ब्राह्मणम् (मन्त्र ५)—वेद और ईश्वर के ज्ञान के प्रचार के लिये वेद और ईश्वर को जानने वाले को उत्पन्न कीजिये।

क्षत्राय राजन्यम् (मन्त्र ५)—राज्य वा राज्य की रक्षा के लिये राजपुत्र को उत्पन्न कीजिये।

मरुद्भ्यो वैश्यम् (मन्त्र ५)—पशु आदि प्रजा के लिये वैश्य को उत्पन्न कीजिये।

तपसे शूद्रम् (मन्त्र ५)—कष्ट से होने वाली सेवा के लिये प्रीति से सेवा करने तथा शुद्धि करने वाले शूद्र को उत्पन्न कीजिये।

पवित्राय भिषजम् (मन्त्र १०)—रोग की निवृत्ति करने के लिये वैद्य को उत्पन्न कीजिये ।

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम् (मन्त्र १०)—उत्तम ज्ञान बढ़ाने के लिये नक्षत्रों को देखने वा इनसे उत्तम विषयों को दिखाने वाले गणितज्ञ ज्योतिषी को उत्पन्न कीजिये ।

ऋतये स्तेनहृदयम् (मन्त्र १३)—हिंसा करने के लिये प्रवृत्त हुए चोर के तुल्य छली-कपटी को पृथक् कीजिये ।

वैरहत्याय पिशुनम् (मन्त्र १३)—वैर तथा हत्या जिस कर्म में हो उसके लिये प्रवृत्त हुए निन्दक को पृथक् कीजिये ।

योगाय योक्तारम् (मन्त्र १४)—योगाभ्यास के लिये योग करने वाले योगी को उत्पन्न कीजिये ।

वर्णाय हिरण्यकारम् (मन्त्र १७)—सुन्दर रूप वाले आभूषण बनाने के लिये सुनार को उत्पन्न कीजिये ।

नर्माय पुंश्चलूम् (मन्त्र २०)—क्रीड़ा के लिये प्रवृत्ति हुई व्यभिचारिणी स्त्री को दूर कीजिये ।

इससे अगले ३१वें अध्याय में स्वामी जी के अभिप्रायानुसार 'पुरुष' नाम से परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन है, तथा उस पुरुष परमात्मा से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, इसका उल्लेख है ।

पितृमेध

कर्मकाण्डानुसार ३५वें अध्याय में पितृमेध का वर्णन है। जिस पुरुष को पितृमेध करना हो वह मृत पुरुष की अस्थियाँ कुम्भ में सञ्चित कर अरण्य में गाड़ दे। पितृमेध के दिन उस अस्थिकुम्भ को ग्राम के समीप लाकर जितने मृतपुरुष के पुत्र-पौत्र सम्बन्धी हों उतने अन्य कुम्भ तथा उनसे कुछ अधिक छत्र एकत्र कर ले। अस्थिकुम्भ को शय्या पर रख वस्त्र में लपेट दें। मोहमय वादित्र, वीणा आदि के बजने पर मृत के पुत्र-पौत्र उत्तरीयों तथा व्यजनों से पंखा झलते हुए उसकी तीन तीन प्रदक्षिणा करें। कुछ के मत में स्त्रियाँ भी परिक्रमा करें। रात्रि के पूर्व, मध्य तथा उत्तर भागों में उस दिन बहुत अन्नदान करें, नृत्य गीत करायें, बाजे बजवायें तथा अस्थिकुम्भ को अन्न का उपहार दें। प्रातः होने से पूर्व अस्थिकुम्भ सहित पूर्वोक्त कुम्भों तथा छत्रों को लेकर ग्राम के दक्षिण ओर अध्वर्यु, यजमान तथा अमात्य बाहर चले जायें। इतनी रात गये कार्य आरम्भ करना चाहिये कि श्मशानान्त कर्म करते करते सूर्य निकल आये। पुरुषप्रमाण क्षेत्र बनाकर पूर्वादि दिक्कोणों में पलाश, शमी, तथा पत्थर के शंकु गाड़ दें। निकट यजमान का कोई पुरुष तृणों का पूला ऊँचा खड़ा कर दे, जिसे कार्य समाप्ति पर घर आकर घर के ऊपर लगा दे, उससे प्रजावृद्धि होगी।

तदनन्तर तैयार किये हुए उस पुरुषप्रमाण क्षेत्र को रस्सी से घेरकर प्रथम मन्त्र से पलाश-शाखा द्वारा तृण, पत्ते आदि बाहर निकाल दे। फिर पलाशशाखा को दक्षिण में फेंककर द्वितीय मन्त्र द्वारा उस क्षेत्र के दक्षिण या उत्तर में ६ बैलों से हल चलवायें। तृतीय मन्त्र के पूर्वभाग से हल द्वारा चार लीकें करवायें, उत्तर भाग में बैलों को खोल दें। फिर हल को दक्षिण दिशा में चुपचाप फेंककर चतुर्थ मन्त्र से कृष्ट

क्षेत्र में ओषधियों को बोये। ५म-६षष्ठ मन्त्र से पुरुषप्रमाण क्षेत्र के मध्य मृत पुरुष की अस्थियों को सञ्चित करें। उस रिक्त कुम्भ को कोई विप्र दक्षिण में फेंक आये, तब यजमान या अध्वर्यु षष्ठ मन्त्र का जप करें। फिर उन अस्थियों को अङ्गों के क्रम से रखकर पुरुषाकृति बना ले, जिसका सिर पूर्व की ओर रहे। मध्य में ईट (इष्टक) रखता हुआ ८म तथा ९म मन्त्र बोले, जिसमें शान्ति की प्रार्थना की गई है। फिर श्मशान बना, उसके दक्षिण में दो गढ़े कर, उन्हें दूध तथा जल से भर, मध्य में तीन पाषाण रख अध्वर्यु, यजमान तथा अमात्य उन गढ़ों के ऊपर चलते हुए १०वाँ मन्त्र बोलें, जिसमें कहा है कि यह पत्थरों वाली नदी बह रही है, इसे पार कर जाओ। फिर अमात्य यज्ञोपवीत धारण कर, आचमन कर ११वें मन्त्र से अपामार्ग द्वारा अपने शरीरों का मार्जन करें। तत्पश्चात् यजमान और अमात्य १२वें मन्त्र से स्नानकर, नूतन वस्त्र पहन १३वें मन्त्र से बैल की पूंछ का स्पर्श कर १४वें मन्त्र से ग्राम को चल पड़े। ग्राम तथा श्मशान के मध्य में १५वें मन्त्र से मिट्टी का ढेला (मर्यादालोष्ठ) रखें, इत्यादि विधि कल्पित की गई है।

दयानन्द जी ने इन विधियों से स्वतन्त्र होकर मन्त्रों की व्याख्या की है। उन्होंने सम्पूर्ण अध्याय को मृत के पक्ष में न लगाकर जीवितों के लिये लगाया है, तथा जीवितों के लिये प्रेरणा दी है कि उन्हें अमुक-अमुक प्रकार के सत्कार्य करने चाहिए। सब जीवों के लिये सुख प्राप्ति तथा मृत्यु को दूर भगाने का सन्देश लिया है। तुलना के लिए हम इस अध्याय का केवल एक मन्त्र यजुर्वेद ३५/२० ले रहे हैं।

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो,
यत्रैनान् वेत्थ निहितान् पराके।
मेदसः कुल्या उप तान्स्रवन्तु,
सत्या एषामाशिषः सन्नमन्तां स्वाहा ॥ ३५ २० ॥

उवट तथा महीधर ने इस मन्त्र का विनियोग चर्बी (वपा) के होम में माना है। महीधर लिखते हैं कि मन्त्र का विनियोग यद्यपि श्रौतसूत्र में नहीं है, तो भी गृह्यसूत्र में है। वे कहते हैं कि इस मन्त्र से गाय की चर्बी का होम करें। अर्थ यह किया है—"हे जातवेदः अग्ने, तू पितरों के लिए गाय की चर्बी को वहन करके ले जा, जहाँ कि दूर पर निहित हुआ तू उन्हें जानता है। चर्बी की नहरें उन पितरों के पास पहुँचें। दाताओं के मनोरथ भी पूर्ण हों। स्वाहा सुहुत हो।"

इस अर्थ से **स्वामी जी** के अर्थ का मिलान कीजिये। उनके मत में पितर जनक लोग व विद्या – शिक्षा देने वाले सज्जन हैं, 'जातवेदा' उत्तम ज्ञान को प्राप्त हुआ जन है। 'वपा' का अर्थ चर्बी नहीं, किन्तु भूमि है यह शब्द बीज बोने के अर्थ वाली 'वप' धातु से बना है। जिसमें बीज बोया जाये वह भूमि 'वपा' है। 'मेदसः कुल्याः' का अर्थ भी 'चर्बी की नहरें' नहीं किन्तु 'स्निग्ध नहरें' हैं। ज्ञानी जनों को चाहिये कि वे जनक व विद्या–शिक्षा देने वाले सज्जन पितरों से खेती योग्य भूमि को प्राप्त करें। उसकी सिंचाई आदि के लिये उन्हें जल प्रवाह से युक्त नदी व नहरें निकट प्राप्त हों, जिससे सत्य क्रिया द्वारा उनकी यथार्थ इच्छाएँ फलीभूत हों।

उषा-देवता-मंत्र का तुलनात्मक अध्ययन

इस विषय में ऋग्वेद १/११३/१२ का उषा देवता वाला निम्न मन्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

यावयद् द्वेषा ऋतपा ऋतेजा सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती ।
सुमङ्गलीबिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ ॥

इस मन्त्र में यावयद् द्वेषा, ऋतपा: ऋतेजा, सूनृता ईरयन्ती इत्यादि जो विशेषण हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि यह उषा जिसका इस तथा अन्य मन्त्रों में निर्देश हैं, द्वेष को दूर करने वाली, वेद तथा सत्य की रक्षा करने वाली, सत्य मधुर शब्दों को प्रेरित करने वाली विदुषी देवी है, न कि उषा नाम से साधारणतया प्रसिद्ध प्रभात वेला। तथापि श्री सायणाचार्यादि भाष्यकारों ने इसका निम्न प्रकार का अर्थ किया है, जिसमें इन विशेषणों का महत्त्व सर्वथा नष्ट हो जाता है। सायणाचार्य कृत अर्थ :—

(यावयद् द्वेषा) यावयन्ति अस्मत् पृथक् कृतानि द्वेषांसि द्वेष्टृणि राक्षसादीनि यया सा तथोक्ता न ह्युषसि जातायां राक्षसादयोऽवति-ष्ठन्ते, यतस्ते निशाचराः (ऋतपाः) ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा पालयित्री, (ऋतेजाः) यज्ञार्थं प्रादुर्भूता, सत्यामुषसि अहनि यागा अनुष्ठीयन्ते अतो यज्ञार्थं जातेत्युच्यते । (सुम्नावरी) सुम्नमिति

सुखनाम तद्वती, (सूनृता:) वाङ्नामैतत् पशुपक्षिमृगादीनां वचांसि (ईरयन्ती) प्रेरयन्ती उत्पादयन्ती, (सुमङ्गली:) सौमङ्गल्योपेता पत्या कदापि न वियुक्तेत्यर्थ:। (देववीतिम्) देवै: काम्यमान यज्ञं (बिभ्रती) धारयन्ती, हे उष:। (श्रेष्ठतमा) उक्तप्रकारेणाति–प्रशस्ता त्वम् (इह) अस्मिन् देवयजनप्रदेशे (अद्य) अस्मिन् याग–समये (व्युच्छ) विवासय।

विस्तार भय से विद्वान् पाठकों के लिये इसके भाषानुवाद की मैं आवश्यकता नहीं समझता। केवल इतना ही निर्देश करना पर्याप्त है कि उषा के वास्तविक अर्थ को न समझकर श्री सायणाचार्य ने उसके विशेषणों के अर्थों की कैसे तोड़मरोड़ की है। सब संस्कृतज्ञ इस बात को जानते होंगे कि यु धातु के मिश्रण और अमिश्रण वा पृथक्करण ये दो अर्थ होते हैं। अत: 'यावयद्द्वेषा' का सीधा अर्थ द्वेषों को दूर करने वाली है, जो चेतन देवी ही हो सकती। प्रभात वेला के लिये यह विशेषण असम्भव है. अत: श्री सायणाचार्य ने उसका द्वेष अर्थात् राक्षसों को हमसे दूर करने वाली, क्योंकि उषा को निकलने पर राक्षस लोग नहीं ठहर सकते, ऐसा विचित्र और खेंचातानी वाला अर्थ कर दिया है। उषा का जो विशेषण 'सूनृता ईरयन्ती' आया है, जिसका अर्थ सत्य मधुर उच्चारण करने वाली वाणी यह सुप्रसिद्ध और सर्वविदित है। उसका अर्थ पशु-पक्षी, मृग आदि की वाणी को उत्पन्न करने वाली ऐसा श्री सायणाचार्य ने कर दिया है। 'ऋतपा:' का अर्थ सत्य और वेद की रक्षा करने वाली यह सुप्रसिद्ध है, उसको उषाकाल पर लगाने का असङ्गत प्रयत्न किया गया है। 'सुमङ्गली:' का अर्थ सौमङ्गल्य से युक्त, पति से कभी न वियुक्त होने वाली—यह किया गया है, किन्तु प्रभात वेला पर उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न कितना उपहासास्पद है, इसको निष्पक्ष विचारशील पाठक स्वयं देख सकते हैं।—

—यद्यपि यहाँ श्री सायणाचार्य ने 'सूनृताः' का अर्थ केवल वाणी मानकर 'पशुपक्षि मृगादीनां वचांसि'—अर्थात् पशु-पक्षी-मृग आदि के शब्द—ऐसी व्याख्या कर दी है। किन्तु अ० ३/६२/२ की व्याख्या में स्वयं उन्होंने (सूनृताः) का अर्थ प्रिय सत्यरूपा वाचः (ईरयन्ती) उच्चारयन्ती—यह कहते हुए इसी मन्त्र का प्रतीक दिया है। यथा—'तथा च मन्त्रवर्णः—सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती' (ऋग्वेद १/१३/१२)। ऐसी अवस्था में इस 'सत्य और मधुर वचनों का उच्चारण करने वाली' विशेषण की प्रभात वेला पर लगाना कितना असङ्गत है !

किन्तु इस असङ्गत अर्थ को करने में सायाणाचार्य अकेले नहीं हैं। उनसे पूर्ववर्ती स्कन्द स्वामी और वेंकटमाधव आदि ने भी लगभग वैसा ही अर्थ किया है। इस मन्त्र का भाष्य करते हुए स्कन्द स्वामी ने मुख्य-मुख्य शब्दों का अर्थ इस प्रकार दिया है—

(ऋतपाः) यज्ञस्य—यज्ञो ह्युषस्युदितायां क्रियते न रात्रौ अतस्तस्य पालयित्रीत्युच्यते। (ऋतेजाः) ऋतशब्दोऽत्रादित्यवचनः। पञ्चम्याश्च स्थाने सप्तमी। आदित्याज्जनित्री। (सूनृता ईरयन्ती) उदयोत्तरकालं हि प्राणिनां वाचः प्रवर्त्तन्ते, अतः सैव ताः प्रेरयन्तीतिव्यपदिश्यते।

यहाँ स्कन्द स्वामी ने भी उषा के 'सूनृता ईरयन्ती' की वही व्याख्या करके सन्तोष कर लिया है कि प्राणियों की वाणी को प्रवृत्त करने वाली उसे इसलिये कहा जाता है, क्योंकि उषा के उदित होने के पश्चात् ही वाणियाँ प्रवृत्त होती हैं। 'ऋतेजाः' इस शब्द में ऋत का अर्थ सूर्य करके, जिसके लिये उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया, और सप्तमी को पञ्चमी वाचक मानकर सूर्य उत्पन्न होने वाली यह अर्थ

कर दिया है। जबकि उसका सीधा अर्थ सत्य में उत्पन्न वा उसके कारण प्रसिद्ध होता है। वेंकट माधव ने इस मन्त्र का अर्थ तो किया है—

(यावयद्द्वेषा) पृथक्क्रियमाणशत्रुका सत्यस्य पालयित्री सत्ये जाता सुखवती वाचः प्रेरयन्ती शोभनमङ्गला यज्ञं धारयन्ती श्रेष्ठतमा इह अद्य उषः व्युच्छ।

यहाँ 'यावयद् द्वेषा' का अर्थ पृथक् क्रियमाणशत्रुका अर्थात् शत्रुओं को जिससे पृथक् कर दिया है, ऐसा किया है, जिसका प्रभात वेला से सम्बन्ध सर्वथा अस्पष्ट है। सूनृता का अर्थ 'वाचः' करके उन वाणियों को प्रेरित करती हुई सत्य का पालन करने वाली उषा, ऐसा किया गया है। क्या प्रभात वेला पर ये विशेषण चरितार्थ हो सकते हैं? अब **महर्षि दयानन्द** कृत अर्थ को देखिये—

हे (उषः) उषर्वद् वर्तमाने विदुषि! (यावयद्, द्वेषा) यावयन्ति दूरी कुर्वन्ति अप्रियकर्माणि यया सा (ऋतपा) सत्यपालिका (ऋतेजा) सत्ये प्रादुर्भूता (सुम्नावरी) प्रशस्तानि सुखानि विद्यन्ते यस्यां सा (सुमङ्गलीः) शोभनानि मङ्गलानि यासु ताः (सूनृताः) वेदादि-सत्यशास्त्र सिद्धान्त वाचः (ईरयन्ती) सद्यः प्रेरयन्ती (श्रेष्ठतमा) अतिशयेन प्रशंसिता (देवव्रीतिम्) विदुषां विशिष्टां नीतिम् (बिभ्रती) त्वम् इह अद्य (व्युच्छ) दुःखं विवासय।

सरल होने के कारण इस सारे का भाषानुवाद अनावश्यक है। इतना ही लिखना पर्याप्त है कि **महर्षि दयानन्द** ने यहाँ उषा से केवल प्रभात वेला का अर्थ न लेकर उषा की तरह व्यवहार करने वाली स्त्री यह अर्थ लिया है और उस पर यावयद् द्वेषा, ऋतपा, ऋतेजा, सूनृता ईरयन्ती इत्यादि विशेषणों को घटाया है, जिनकी सीधी सङ्गति बिना किसी क्लिष्ट कल्पना या खैंचातानी के लग जाती है। विदुषी स्त्री

की सहायता से सब अप्रिय कर्मों को दूर किया जाता है, वह सत्य की रक्षा करने वाली, सत्य से प्रादुर्भूत, सुखदायिका, उत्तम मङ्गलयुक्त वेदादि सत्यशास्त्रों के सिद्धान्तों की प्रतिपादिका प्रियवाणियों को प्रेरित करने वाली होती है। इसके भावार्थ में महर्षि ने लिखा है—

अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः–यथा उषास्तमोनिवार्य प्रकाशं प्रादुर्भाव्य धार्मिकान् सुखयित्वा चौरादीन् पीडयित्वा सर्वान् प्राणिनः आह्लादयति तथैव विद्याप्रकाशवत्यः शमादिगुणान्विता विदुष्यः सत्—स्त्रियः स्वपतिभ्योऽपत्यानि कृत्वा सुशिक्षयाऽविद्यान्धकारं निवार्य विद्यार्कं प्रापय्य कुलं सुभूषयेयुः।

अर्थात् :—जैसे उषा अन्धकार को हटाकर प्रकाश को प्रादुर्भूत करके धार्मिकों को सुखी और चौरादि को पीड़ित करके सब प्राणियों को आह्लादित करती है, वैसे ही विद्या धर्म के प्रकाश वाली शान्ति आदि गुणों से युक्त विदुषी स्त्रियाँ अपने पतियों को सन्तान देकर उत्तम शिक्षा से अविद्यान्धकार को हटाकर, विद्यारूपी सूर्य को प्राप्त कराकर अपने कुल को सुभूषित करें।

अब विचारशील निष्पक्ष पाठक महोदय देखें कि इस विदुषी-स्त्रीपरक अर्थ में मन्त्रोक्त विशेषणों की अच्छी सङ्गति बिना किसी खैंचातानी के लग जाती है या केवल प्रभात वेला के पक्ष में! यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक उषा की इस अर्थ में सर्वथा उपेक्षा नहीं की गई, किन्तु उसकी उपमा से स्त्रीपरक उत्तम कर्त्तव्य का प्रतिपादन किया गया है।

वर्तमान युग के भाष्यकारों में से **महर्षि दयानन्द** की वेद भाष्य शैली के प्रबल समर्थक दिवङ्गत सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जी के

शिष्य श्री कपाली शास्त्री जी ने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का संस्कृत में जो भाष्य किया है, उसमें उषा के केवल प्राकृतिक प्रभात वेला होने का निराकरण करते हुए उसका 'चित्प्रभातोदयज्योतिः'—अर्थात् चित्त में ज्ञान के प्रकाश की प्रभात वेला अथवा श्री अरविन्द के अपने शब्दों में (Divine Dawn of illumination) ऐसा आध्यात्मिक अर्थ किया है। 'यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः' इस मन्त्र का भाष्य श्री कपाली शास्त्री जी ने इन शब्दों में किया है :—

(यावयद्द्वेषा) यावयन्ति पृथक्कृतानि द्वेषांसि द्वष्टृणि रक्षः प्रभृतानि यया सा (ऋतपाः) ऋतस्य ज्योतिषः पालयित्री (ऋतेजाः) ऋते प्राप्तव्ये निमित्तभूते जायते प्रादुर्भूता (सुम्नावरी) सुम्नं सुखं तद्वती (सूनृता ईरयन्ती) शोभनसत्यावचः प्रेरयन्ती वादयित्री सूनृता-नाम्—(सुमङ्गलीः) सौमङ्गल्योपेता अत्यन्तं सौभाग्यं विवक्षितम् (देववीतिम्) देवानां वीतिम्—आगात् प्रादुर्भूतमित्यर्थः तां (बिभ्रती) वहन्ती, हे उषः (श्रेष्ठतमा) अतिप्रशस्या त्वम् (इह) अत्र मयि—(अद्य) इदानीं (व्युच्छ) व्युष्य भव।

उषा :—चितप्रभातोदयज्योतिः। आध्यात्मिक दृष्टि से उषा की यह व्याख्या सायणाचार्यादि की प्राकृतिक प्रभात वेलापरक व्याख्या से अधिक अच्छी है इसमें सन्देह नहीं, तथापि अनेक स्थानों पर इससे भी काम नहीं चल सकता। यहाँ विशेषणादिबल से उषा की तरह ज्ञान का प्रकाश करने वाली विदुषी स्त्री के ज्ञान से ही मन्त्रार्थ की सङ्गति ठीक लगती है। विस्तारभय से मैं उषाविषयक इस प्रकरण को अभी यहीं समाप्त करता हूँ। इस प्रकार मन्त्रार्थ के तुलनात्मक अनुशीलन से **महर्षि दयानन्द** की वेद भाष्य शैली का महत्त्व निष्पक्ष पाठकों के हृदय पटल पर अवश्य अङ्कित होगा; यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

राजनीति परक मन्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन

अब मैं प्रसङ्गवश उन दो वेदमन्त्रों का तुलनात्मक दृष्टि से अनुशीलन विद्वान् पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जिनकी मध्यकालीन प्रायः सभी भाष्यकारों ने अत्यन्त अश्लील व्याख्या करके वेदों को सुशिक्षित लोगों की दृष्टि में कलङ्कित कर दिया है, किन्तु वस्तुतः जिनमें राजनीति और स्त्रियों के अधिकार के अत्युत्तम तत्त्वों का प्रतिपादन है। जिन्हें महर्षि दयानन्द ने जगत् के सम्मुख रख कर महान् उपकार किया। इसमें केवल सायणाचार्य ही नहीं, स्कन्द स्वामी, वेंकटमाधव, दुर्गाचार्य, विलसन, ग्रिफिथ, श्री रामगोविन्द त्रिवेदी आदि मध्यकालीन और अर्वाचीन भाष्यकार तथा अनुवादक सब ऐसे अश्लील अर्थ करने में एक ओर हैं और महर्षि दयानन्द दूसरी ओर। दोनों प्रकार के अर्थों का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् मैं यह निर्णय निष्पक्ष विचारशील विद्वानों पर छोड़ दूंगा कि वे किस अर्थ को उपादेय समझते हैं। सायणाचार्यकृत अर्थ का निर्देश करने से पूर्व उन से पूर्ववर्ती स्कन्दस्वामी और वेंकटमाधव के भाष्यों का उल्लेख कर देना उचित होगा, यद्यपि यह एक अप्रिय प्रसङ्ग हो गया है। प्रथम मन्त्र जिसका मैं उल्लेख करना चाहता हूँ, वह निम्न है—

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता ॥ ऋग्वेद १।१२६,६ ॥

इस का स्कन्द स्वामी ने निम्न रीति से भाष्य किया है—'म भावयव्यः स्वनयः स्वया भार्यया रोमशया संभुङ्क्ष्व माम् इत्युक्तस्ताम् अनया ऋचा प्रत्याह—

(आगधिता) आगृहीता आमिश्रिता अवयवैर्गाढं परिष्वक्ता सतीत्यर्थः (परिगधिता) सर्वतोऽन्तर्बहिश्च मिश्रिता आलिंगनचुम्बनपुरस्सरं प्रक्षिप्तप्रजनना सानुरागाय संभोगाय परिगृहीता च सतीत्यर्थः। दिवेकशान् इति हि श्रूयते सहि नकुलप्रकारः। पूतीकेशी कशीकेव सा यथा पूतिकेशी संभोगकाले गृह्णीयात् तद्वत् (यादुरी) यादुरित्युदकनाम री मत्वर्थे रेतोलक्षणेनोदकेन तद्वती, प्रभूतं रेतः क्षरन्ती आविर्भूतस्नेहरसेत्यर्थः। (याशूनाम्) याशुशब्दः संभोगे संभोगानां शतानि च ददाति सा भोज्या सा भोगार्हा सम्भोगयोग्या त्वम् अत्यन्तबालत्वान्न तावदेवं रूपेत्यर्थः। (स्कन्दस्वामिकृते निरुक्त भाष्ये डॉ० लक्षमणस्वरूप सम्पादिते)। (पृष्ठ ३४९)

अत्यन्त अश्लील होने के कारण इसका अनुवाद देना भी ठीक प्रतीत नहीं होता। संस्कृतज्ञ तो उपर्युक्त भाष्य का अर्थ समझ ही जायेंगे। अन्यों के लिये उसका संक्षिप्त भाव सायणाचार्य और वेंकट–माधव का भाष्य उद्धृत करने के पश्चात् लिख दिया जायगा।

सायणाचार्य–भाष्य :—

संभोगाय प्रार्थितो भावयव्यः स्वभार्यां रोमशाम् अप्रौढेति बुद्ध्या–परिहसन्नाह (भोज्या) भोगयोग्यैषा (आगधिता) आसमन्तात् गृहीता स्वीकृता तथा (परिगधिता) परितो गृहीता। आदरातिशयाय पुनर्वचनम्। गध्यं गृह्णातेरिति यास्कः। यद्वा (आगधिता) आ समन्तान्मिश्रयन्ती आन्तरं प्रजनेनन बाह्यं भुजादिभिरित्यर्थः।

गध्यतिर्भिश्रीभावकर्मेति यास्कः। पूर्वस्मिन् पक्षे पुरुषस्य प्राधान्यम्, उत्तरस्मिस्तु योषित इति भेदः। कीदृशीं सा (यां) (जङ्गहे) अत्यर्थ गृह्णाति कदाचिदपि न विमुञ्चति, अत्यागे दृष्टान्तः (कशीकेव) कशीका नाम सुतवत्सा नकुली सा यथा पत्या सह चिरकालं क्रीडति न कदाचिदपि विमुञ्चति तथैषापि। किं च भोज्यैषा (यादुरी) यादुरित्युदकनाम। रेतोलक्षणमुदकं प्रभूतं राति ददातीति यादुरो बहुरेतोयुक्तेत्यर्थः। तादृशी सती (याशूनाम्) संभोगानाम् यश इति प्रजनननाम तत्सम्बन्धीनि कर्माणि याशूनि भोगाः तेषां (शता) शतानि असंख्यातानि (मह्यम्) ददाति।

(सायणकृत ऋग्वेद भाष्य तिलक संस्थान प्रकाशन पृष्ठ ८००)

इसका अनुवाद श्री रामगोविन्द त्रिपाठी वेदान्त शास्त्री ने निम्न शब्दों में किया है—

'यह सम्भोगयोग्या रमणी (लोमशा) अच्छी प्रकार आलिंगित होकर सूतवत्सा नकुली की तरह चिरकाल तक रमण करती है। बहुरेतोयुक्ता होकर रमणी मुझे (स्वनय राजा को) बहुवार भोग प्रदान करती है।'

इस अनुवाद में सायण की इस भूमिका का अनुवाद नहीं दिया गया कि संभोग के लिये प्रार्थित भावयव्य राजा अपनी रोमशा को अप्रौढ़ा (अप्राप्त रजोधर्मा) समझ कर परिहासपूर्वक कहता है।

एक ओर तो सायणाचार्य ऋग्वेद भाष्य भूमिका में वेदों को अपौरुषेय मानकर मीमांसा के 'श्रुतिसामान्यम्' इत्यादि सूत्रों के अनुसार उनमें अनित्य इतिहास का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर वे मन्त्रों का उपर्युक्त प्रकार का अश्लील अर्थ करते हुए नहीं सकुचाते, क्या यह

आश्चर्य की बात नहीं ? क्या ऐसा वदतोव्याघात दोषयुक्त अर्थ विद्वानों के लिये मान्य हो सकता है ? क्या इस प्रकार के अपनी पत्नी के प्रति असङ्गत उपहासपूर्वक कथित वचनों से वेद का गौरव प्रतिष्ठित होता है ? यह सर्वसम्मत बात है कि वेद 'तमस्मेरा युवतयो युवानम् उप मामुश्चायुवतिर्भूयाः (ऋग्वेद १०/१८३) इत्यादि के द्वारा युवा और युवति के स्वयंवर विवाह का विधान करते हैं, फिर यह कहना कि पति को यह ज्ञात भी नहीं कि उसकी स्त्री ऋतुमती हो चुकी या नहीं और उसके साथ उपरिनिर्दिष्ट रूप से भद्दी मखौल करना कितना अनुचित है ?

यही बात श्रीस्कन्दस्वामी कृत अर्थ के विषय में लागू होती है । एक ओर तो स्कन्द स्वामी अपनी निरुक्त २/१२ की टीका में लिखते हैं—

एमवाख्यानस्वरूपाणा मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कार्या । एष शास्त्रे सिद्धान्त । औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यान–समयः परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम् । निरुक्त टीका, २/१२ ।

अर्थात् :—आख्यायिका के रूप में जो मन्त्र हैं, उनकी यजमान और नित्य पदार्थों में योजना करनी चाहिये, यही शास्त्रों का सिद्धान्त है । यह मन्त्रों में आख्यान कथादि का प्रतिपादन औपचारिक व गौण है । वास्तव में तो नित्यपक्ष ही ठीक है, यह सर्वथा सिद्ध बात है ।

दूसरी ओर वही वेदमन्त्रों के इस प्रकार अनित्य इतिहासपरक अश्लीलतासूचक अर्थ बताते हैं, यह बात परस्परविरुद्ध होने के कारण भी अमान्य हो जाती है ।

मन्त्र का दुर्गाचार्यकृत भाष्य—

मैथुनसम्बन्धाच्छब्दसाम्याच्च गध्यतिर्मिश्री-भावकर्मा इत्युपपद्यते। (परिगधिता) परिमिश्रीकृता बाहुभ्यां मया परिष्वक्तेत्यर्थः। (कशीकेव) सा हि नकुल-जातिः सा यथा मदकाले प्रतिकशमतितरां परिष्वजाति स हि तस्याः परिष्वजनस्वभावः। एवं या माम् परिगृह्णाति बाहुभ्यां परिगृह्य च ददाति (यादुरी) आदरवती अथवा यादसा रेतः सेकेन तद्वती। यादः इत्युदकनामसु (निरुक्त १/१२) पठितम् (याशूनां शता) मैथुनाख्यानां शतानि बहुश इत्यर्थः (भोज्यैषा) यैवंप्रकारा सा मम भोज्या पत्नीत्यभिप्रायः।

इसका भाषानुवाद देने की आवश्यकता नहीं। यह भाष्य सायण भाष्य के ही समान है, जिसका संक्षिप्त अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है।

स्कन्दस्वामी, सायणाचार्य और दुर्गाचार्य तीनों ने लिखा है कि यादः का अर्थ निघण्टु १/१२ के अनुसार जल होता है। उसको वीर्य के अर्थ में ले लेना भी खैंचातानी है।

वेंकटमाधव का भाष्य :—

इस मन्त्र की व्याख्या वेंकटमाधव ने निम्न श्लोकों में की है—

प्रादात्सुतां रोमशां नाम नाम्ना, बृहस्पतिर्भावयव्याय राज्ञे।
ततस्तमर्थं हरिवान् विदित्वा, प्रियं सखायं स्वनयं दिदृक्षुः॥
अभ्याजगामाथ शचीसहायः, प्रीत्यार्चयत् तं विधिनैव राजा।
अभ्याजगामाङ्गिरसी च तत्र, दृष्ट्वा तयोः सा चरणौ ववन्दे॥
इन्द्रः सखित्वादथ तामुवाच, रोमाणि ते सन्ति न सन्ति राज्ञि।
सा बालभावादथ तं जगाद, उपोप मे शक्रपरामृशेति॥

यहाँ ऊपर जो श्लोक उद्धृत किये गये हैं, उनमें वेंकटमाधव ने एक और ही विचित्र और अश्लील कथा इन मन्त्रों के सम्बन्ध में दी है कि बृहस्पति ने अपनी पुत्री रोमशा को भावयव्य राजा को विवाह में दी। जब इन्द्र को यह ज्ञात हुआ तो अपनी पत्नी के साथ मित्र भावयव्य को मिलने के लिये आया। राजा ने प्रेमपूर्वक उसका आदर सत्कार किया। अङ्गिरसी रोमशा ने भी इन्द्र और उसकी पत्नी का प्रसन्नतापूर्वक चरणस्पर्श किया। तब इन्द्र ने मित्रभाव से रोमशा से पूछा कि रानी, तेरे बाल हैं या नहीं। उसने बालभाव से यह कहा कि शक्र, 'उपोप मे परामृश'—हे इन्द्र ! तू समीप से इनका स्पर्श कर। यह कथा, जो नितान्त अश्लील और इन्द्र और रोमशा दोनों की आचारभ्रष्टता की सूचक है, देकर वेंकटमाधव ने 'आगधिता परिगधिता' इस मन्त्र का अर्थ प्राय: स्कन्द स्वामी, सायण, दुर्गाचार्य आदि के समान किया है। केवल 'यादुरी' का अर्थ उनके अर्थों से भिन्न 'अभिक्रमणवती' यह किया। जिसका भाव उसने अधिक स्पष्ट नहीं किया। इसके पश्चात् उसने यह भी लिख दिया कि जब इसे भावयव्य और रोमशा पति-पत्नी का संवाद माना जाय तो जो प्राप्तयौवना पुरुष का आलिङ्गन करे, वही पुत्रोत्पादन में योग्य होती है, यह अभिप्राय है।

ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद में इस तथा अगले मन्त्र को अत्यन्त अश्लील मानकर इसका अंग्रेजी अनुवाद नहीं किया। परिशिष्ट में लैटिन अनुवाद देकर लिखा है कि—

They lock like a fragment of a Liberal shepherd's lovesong. Hymns of the Rigveda Vol., P. 649.

अर्थात् :—ये मन्त्र किसी उदार गड़रिये के प्रेम सङ्गीत के खण्ड से प्रतीत होते हैं।

अब अन्य भाष्यकारों की वेदमन्त्र के साथ की गई इस खिलवाड़ को देखने के पश्चात् **महर्षि दयानन्द** कृत मन्त्रार्थ को देखिये, जो निम्न है—

कः काऽत्र राज्येऽवश्यं प्राप्तव्येत्यत्राह-या (आगधिता) समन्ताद् गृहीता। गध्यं गृह्णातेः निरुक्त ५/१५ (परिगधिता) परितः सर्वतः गधिता शुभगुणैर्युक्ता नीतिः, गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा। निरुक्त ५/१५। (जङ्गहे) अत्यतं ग्रहीतव्येति (कशीका) यथा ताडनार्थ कशीका (याशूनां) प्रयतमानानाम्। अत्र यसुप्रयत्ने धातोर्बाहुलकादुण् प्रत्ययः दीर्घश्च (यादुरी) प्रयत्नशीला (शता) शतानि असंख्यातानि वसूनि (भोज्या) भोक्तुं योग्यानि (मह्यम्) (ददाति) सा सर्वैः स्वीकार्या।

भावार्थ :—अत्रोपमालङ्कारः—या नीत्याऽसंख्यातानि सुखानि स्युः, सा सर्वैः सम्पादनीया।

जिस नीति से अगणित सुख हों, वह सबको सिद्ध करनी चाहिये।

इस प्रकार विचारशील पाठक देखेंगे कि **महर्षि दयानन्द** ने भावयव्य नामक किसी राजा की अपनी अल्पायुष्का पत्नी रोमशा के सम्भोग की प्रार्थना पर उसके उपहास के रूप में कथित अश्लील उक्ति के रूप में मन्त्र को न लगाकर (जैसे कि स्कन्दस्वामी, सायण, दुर्गाचार्य तथा वेंकटमाधव आदि मध्यकालीन भाष्यकारों ने किया) इसे नीति के विषय में लगाया है। जिस शुभगुणयुक्त नीति को भली-भांति चारों ओर से ग्रहण किया जाये तो वह असंख्य सुखों को देने वाली होती है। जिस प्रकार चाबुक से घोड़े इत्यादि को वश में किया जाता है, उसी प्रकार इस उत्तम नीति से दुष्टों को वश में किया जा सकता है। इस उपमा को यहाँ प्रयोग किया गया है। वह नीति न केवल शुभगुणयुक्त

होनी चाहिये, अपितु प्रयत्नशीला भी होनी चाहिये। इसलिये उसके विशेषण के रूप में 'यादुरी' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो 'यती प्रयत्ने' से बना हुआ है।

कहाँ महर्षि दयानन्दकृत उत्तम नीतिविषयक यह मन्त्रार्थ और कहाँ स्कन्दस्वामी, सायण, दुर्गाचार्य, वेंकटमाधवादि कृत अश्लील उपहासजनक अर्थ। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से भाष्य की विशेषता स्पष्टतया ज्ञात होती है।

● ● ●

अग्नि देवता के मन्त्रों पर विचार :–

वेदों में अग्नि देवता वाले मन्त्रों की संख्या बहुत अधिक है। सायणाचार्य, उवट महीधरादि प्रायः सभी मध्यकालीन भाष्यकारों ने अग्नि का अर्थ भौतिक अग्नि लेकर उसकी व्याख्या का यत्न किया है जो व्याख्या अनेक स्थानों पर नितन्त असङ्गत और उपहासजनक हो गई है। क्योंकि अग्नि के लिये अनेक स्थानों पर जो जातवेदाः, प्रियः, सुमेधाः, कविः, कवितमः, विप्रः, विश्वानि, वयुनानि विद्वान्, विश्वा' काव्यानि, विद्वान्, प्रचेताः, चिकित्वान् अमृतः, इत्यादि का प्रयोग पाया जाता है उसके साथ इस भौतिक अग्नि परक अर्थ की सङ्गति नहीं जुड़ सकती। उदाहरणार्थ निम्नलिखित मन्त्रों को देखिये जिनमें अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा है कि—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो, भूयिष्ठां, ते नम उक्तिं विधेम॥

ऋग्वेद १।१८९।१, य० ४०।१८॥

यहाँ अग्नि के विशेषण के रूप में 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्' ऐसा कहा गया है, जिसका अर्थ 'सब ज्ञानों और कर्मों को जानने वाला' यह सर्वसम्मत है। उस अग्नि को सम्बोधन करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि हे अग्ने ! तू हमें समस्त ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये उत्तम धर्म मार्ग से चला। क्योंकि तू सारे ज्ञानों और कर्मों को जानने वाला है, इसलिये हम से सारे कुटिलतायुक्त पाप को दूर कर दे। हम तेरी नमस्कारपूर्वक स्तुति बार-बार करते हैं। सायणाचार्य भी इस मन्त्र के भाष्य में "विश्वानि वयुनानि विद्वान्" का अर्थ सर्वाणि प्रज्ञानानि अनेन एतदनुष्ठितम् इदं प्रापणीयमिति यदेतत् ज्ञानमस्ति तद् विद्वान्, यतः विद्वान् अतस्त्वम् अस्मान् शोभनेन मार्गेण गन्तव्याय स्वर्गादिधनाय नय।"

यहाँ अग्नि की सर्वज्ञता का स्पष्ट प्रतिपादन है और उसी सर्वज्ञ अग्नि से धर्म मार्ग पर चलने की और कुटिलतायुक्त पाप से दूर रखने की प्रार्थना है। क्या यह बात भौतिक अग्नि के विषय में सङ्गत हो सकती है ? इस पर विद्वान् स्वयं निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें। उवट और महीधर आदि ने यजुर्वेद ५/३६ के भाष्य में इसे अग्निपरक अर्थ किया है, किन्तु श्री मध्वाचार्य स्वामी आनन्दतीर्थ ने अपने ऋग्वेद भाष्य और ईशोपनिषद्भाष्य में अग्नि की ईश्वर वाचकता को स्वीकार करते हुए और ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अग्नि-देवताक सूक्तों को परमेश्वरपरक व्याख्या करते हुए ऋग्भाष्य के प्रारम्भ में ही लिखा है—

यथैवाग्न्यादयः शब्दाः, प्रवर्तन्ते जनार्दने।
तथा निरुक्ति वक्ष्यामो ज्ञानिनां ज्ञानसिद्धये।

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि, इन्द्र आदि शब्द विष्णु (परमात्मा) का प्रतिपाद करते हैं, वैसी निरुक्ति हम ज्ञानियों के ज्ञान सिद्धि के लिये

करेंगे ।

महर्षि दयानन्द ने अग्नि के लिये प्रयुक्त उपर्युक्त विशेषण को ध्यान में रखते हुए 'अग्ने नय सुपथा' इत्यादि मन्त्रों में उसकी ज्ञान स्वरूप, अग्रणी अथवा सर्वोत्तम नेता ईश्वरपरक व्याख्या की है और निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थ, मनुस्मृति आदि के अनेक स्पष्ट प्रमाण इसके लिये दिये है ।[1]

इसी प्रकार ऋग्वेद ६/१५/१० में मन्त्र आता है ।

तं सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चमविद्वांसो विदुष्टरं सपेम ।

स यक्षद् विश्वा वयुनानि विद्वान् प्र हव्यमग्निरमृतेषु वोचत् ॥

१– संस्कार-विधि में **महर्षि दयानन्द** जी ने इस मन्त्र का जो भाषानुवाद दिया है विस्तार भय से मैं यहाँ उसी को उद्घृत करना पर्याप्त समझता हूँ, ताकि संस्कृत भाष्य का अनुवाद न करना पड़े—"हे (अग्ने) स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करने हारे (देव), सकल सुखदाता परमेश्वर, आप जिससे (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर दूर कीजिये. इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नमः उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें ।"

यहाँ भी अग्नि के लिये 'विश्वा वयुनानि विद्वान्' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ सर्वज्ञ है। उस अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि हम (अविद्वांसः) अविद्वान् होते हुए (विदुष्टरं सपेम) सबसे अधिक ज्ञान वाले की परिचर्या वा पूजा करते हैं।

श्री सायणाचार्य इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं :—

"(अविद्वांसः) वैदुष्यरहिता अल्पमतयो वयम् (विदुषाम्)। विद्वत्तरं सर्वज्ञं तम् अग्निम् (सपेम) परिचरेम (विश्वा) सर्वाणि (वयुनानि) प्रज्ञानानि ज्ञाननामैतत्, इह तु ज्ञातव्ये वर्तते ज्ञातव्यान्यर्थजातानि (विद्वान्) जानन्, अग्निः मरणरहितेषु देवेषु स्मदीयं हविः प्रब्रवीतु।"

यहाँ सायणाचार्य ने, हम अल्पबुद्धि अविद्वान् सर्वज्ञ अग्नि की पूजा करते है, वह अग्नि सब पदार्थों के ठीक-ठीक स्वरूप को जानने वाला है, ऐसी अग्निपरक उपहासजनक असङ्गत व्याख्या करके वेदों को विचारशील विद्वानों की दृष्टि में उपहास का पात्र बना दिया है। जब कि महर्षि दयानन्द ने अग्नि के विदुष्टरम्‌विश्वा वयुनानि विद्वान् आदि विशेषणों तथा उनकी अञ्चु गतिपूजनयोः—अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति इत्यादि निरुक्ति को ध्यान में रखते हुए सर्वज्ञ ईश्वर परक व्याख्या की है—'यथा (अविद्वांसः) (विदुष्टरम्) अतिशयितमीश्वरम् (सपेम) आक्रुश्येम। (विश्वा) सर्वाणि (वयुनानि) प्रज्ञानानि (विद्वान्) ज्ञानवान् (प्र) (हव्यम्) विज्ञानम् (अग्निः) अग्निरिव प्रकाशमानः (अमृतेषु) नाशरहितेषु जीवेषु (वोचत्) वक्ति।" भावार्थ में **महर्षि दयानन्द** ने लिखा—

'ये परमात्मानं न जानन्ति तदाज्ञानुकूलं च नाचरन्ति, तान् धिग्-धिग्। ये च तमुपासते ते धन्याः। योऽस्मान् वेदद्वारा सर्वाणि विज्ञानान्युप-

दिशति तमेव वयं सर्व उपासीमहि ।'

अर्थात् हम अविद्वान् उस सर्वज्ञ भगवान् की पूजा करते हैं जो सब कुछ जानने वाला अमर जीवों को ज्ञान का उपदेश करता है। जो परमात्मा को नहीं जानते और उसकी आज्ञा के अनुकूल आचरण नहीं करते, उनको धिक्कार और जो उसकी उपासना करते हैं, वही धन्य हैं, जो परमेश्वर वेद द्वारा सारे विज्ञान का हमें उपदेश करता है, हम सब उसी की उपासना करते हैं। अब विचारशील विद्वान् पाठक देखें कि इन दोनों अर्थों में से कौन सा अर्थ अग्नि के लिये प्रयुक्त विशेषणादि को देखते हुए सङ्गत और स्वीकरणीय है।

ऋग्वेद २/७/७ का मन्त्र निम्न है :—

अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे ।
दूतो जन्येव मित्र्यः ॥ ऋग्वेद २/७/७ ॥

श्री सायणाचार्य इसका भाष्य इस प्रकार करते हैं— हे (कवे) मेधाविन् अग्ने (अन्तः) जनानां हृदये (ईयसेहि) गच्छसि जानासि वा, हिः 'स होता सेदु दूत्यं चिकित्वां अन्तरीयते ।' (ऋग्वेद ४/८/४) इत्यादिमन्त्रान्तरप्रसिद्धिद्योतनार्थः । कीदृशस्त्वम् (उभया) उभयविधानि (जन्म) जन्मानि यदृशानां यजमानानां यष्टव्यानां देवानां वा सम्बन्धीनि (विद्वान्) जानन् सन् ईयसे इति सम्बन्धः। तत्र दृष्टान्तः (जन्यः) जनेभ्यो हितः (मित्र्यः) विशेषेण मित्रेभ्यो हितः (दूतः) दूत इव। स यथा प्रजानां चित्तवृत्तिज्ञानाय राज्ञा प्रेरितः तासां मनो जानाति, तद्वत् त्वमस्माकम् अन्तरीयसे इत्यर्थः ।

अर्थात् हे मेधावी अग्नि, तू मनुष्यों के हृदय में जाता अथवा उनको जानता है। तू यजमान और यज्ञ कराने वाले अथवा दोनों के

सब जन्मों को जानता हुआ हमारे हृदय में आता है। तू मनुष्यों विशे-षत: मित्रों के लिये हितकारी दूत की तरह है, जो प्रजाओं की चित्त-वृत्ति के ज्ञान के लिये राजा द्वारा प्रेरित होकर उनके मन को जानता है, वैसे ही तू हमारे अन्दर स्थित होकर हमारे कर्मों को जानता है।

पाठक ध्यान दें कि मन्त्र में अग्नि के लिये 'कवे' और 'विद्वान्' ये दोनों विशेषण आये है, जिनका अर्थ सायणाचार्य भी मेधावी और विद्वान् ऐसा ही करते और उस अग्नि को मनुष्यों के हृदय में स्थित और उनके मन्त्रों को जानने वाला बताते हैं। क्या ये विशेषण भौतिक अग्नि पर घट सकते हैं? वेंकटमाधव भी इस मन्त्र को ऐसा ही अग्निपरक अर्थ करते हैं:—

द्यावापृथिव्योरन्तः हि अग्ने गच्छसि विद्वान् जन्मानि उभयानि मानुषाणि देव्यानि च। कवे! दूत इव जनपदान् मित्रहितः॥

डॉ० लक्षणस्वरूपसम्पादिता ऋगर्थदीपिका, खण्ड २, पृष्ठ ३९।

यहाँ वेंकटमाधव अग्नि को कवि और विद्वान् मानते हुए द्युलोक और पृथ्वी लोक में संचार करने वाला बताते हैं। क्या भौतिक अग्नि देवतापरक ये वर्णन सङ्गत हो सकते हैं? अब महर्षि दयानन्द के भाष्य को देखिये! कवि—उभया जन्म विद्वान्—अन्तरीयसे इत्यादि को ध्यान में रखते हुए मन्त्र का निम्न भाष्य करते हैं—

"पदार्थ—हे (कवे) क्रान्तप्रज्ञ सर्वज्ञ (अग्ने) विद्युदिव स्वप्रकाश-जगदीश्वर (विद्वान्) सकलवित् त्वं (हि) खलु (मित्र्यः) मित्रेषु साधुः (दूतः) सर्वतः समाचारप्रदः (जन्य इव) जनेभ्यो हित इव (अन्तः) मध्ये (ईयसे) प्राप्तोऽसि (उभया) वर्तमानेन सह पूर्वापराणि (जन्म) जन्म-कृत्यानि वेत्सि तस्मादस्माभिरुपासनीयोऽसि।"

भावार्थ :—यथा सत्योपदेष्टा सत्यकारी सर्वस्य प्रियं प्रेप्सुः सुहृदाप्तो बाह्यान्तरं विज्ञानं धर्मे नियच्छति तथाऽन्तर्बहिस्थः परमेश्वरः सर्वेषां सर्वाणि कर्माणि विदित्वा फलं ददाति ।

अर्थात् हे सर्वज्ञ स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू सब कुछ जानने वाला, सर्वजनहितकारी सच्चे मित्र की तरह हमारे अन्दर विद्यमान है । तू वर्तमान के साथ हमारे सब जन्मों के कार्यों को जानता है । अतः तू ही हमारा उपासनीय है ।

भावार्थ :—जैसे सत्योपदेष्टा सत्यकारी सबका हितचिन्तक आप्त मित्र बाह्यआन्तरिक ज्ञान देकर मित्र को नियन्त्रित करता है वैसे ही अन्दर-बाहर सब जगह व्याप्त परमेश्वर सबके कार्यों को जान कर फल देता है । इस प्रकार विशुद्ध एकेश्वरवाद का वेदों में प्रतिपादन है न कि भौतिक अग्नि आदि कल्पित देवता की उपासना का, जैसा कि सायणाचार्य-वेंकटमाधवादि ने भ्रान्तिवश समझा और प्रायः पाश्चात्य लेखकों ने उनका अनुसरण किया ।

परमेश्वर-अग्नि

महर्षि दयानन्द ने अग्नि का जो परमेश्वरपरक अर्थ किया, यह उनकी मनगढ़न्त कपोल कल्पना न थी, किन्तु स्वयं वेदों में इसके स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद ३/१/१७-१८ में कहा है—**आदेवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्**। मंत्र १७ **अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्**। मन्त्र १८॥ इनमें अग्नि को सब काव्यों का जानने वाला, सर्वव्यापक, ज्ञानदायक कहा गया है। श्री सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में ऐसा ही इन मन्त्रों का भाष्य किया है, यथा "हे अग्ने (मन्द्रः) स्तुत्यः (केतुः) अग्ने देवानां प्रज्ञापकस्त्वम् (आ अभवः) आ समन्ताद् भवसि सर्वव्यापको भवसीत्यर्थः किं च (विश्वानि) सर्वाणि (काव्यानि) यजमानादिभिः कृतानि स्तोत्राणि (विद्वान्) जानंस्त्वम्" इत्यादि।

यहाँ अग्नि को न केवल सर्वज्ञ अपितु सर्वव्यापक और ज्ञानदाता भी कहा है। इसलिये महर्षि दयानन्द ने इन मन्त्रों का सर्वज्ञ-सर्वव्यापक परमेश्वरपरक अर्थ किया है, जो सर्वथा उचित ही है।

अग्निं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋग्वेद १/१६४/४६॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजुर्वेद ३२/१॥

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट ही है कि एक ही ब्रह्मतत्त्व को विद्वान् अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेकों नामों से पुकारते हैं। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति ये प्रधानतया उस एक ही परमेश्वर के विविध गुणसूचक नाम हैं।

अतः शतपथ ब्राह्मण १/४/२/५१ में स्पष्ट लिखा है—'ब्रह्म अग्निः' अर्थात् अग्नि शब्द प्रधानतया ब्रह्म या परमेश्वर का वाचक है।

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निमृतो निधायि।

(ऋग्वेद ७/८/८) इत्यादि कई मन्त्रों में अग्नि शब्द स्पष्टतया अमर चेतन आत्मा का वाचक है, जैसा कि "अत्मा वा अग्निः" इस शतपथ के १/२/३/२ के वचन में कहा गया है। मैत्रायणी उपनिषद् ६/९ में भी लिखा है :—

'प्राणोऽग्निः परमात्मा' अर्थात् प्राण, अग्नि ये मुख्यतया परमात्मा के वाचक हैं। तैत्तरीय ब्राह्मण २/४/३/२ के अग्निरग्रे प्रथमो देवतानां समानो वाचोत्तमो विष्णुरासीत्।' इस वचन में अग्नि का अर्थ देवाधिदेव विष्णु अथवा सर्वव्यापक परमात्मा स्पष्ट है।

ऋग्वेद ३/२९/२ का जो मन्त्र—

'अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवेत् सुधितो गर्भिणीषु।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः।'

कठोपनिषद् २।१।८ में उद्धृत करते हुए कहा है 'एतद् वै तत्' अर्थात् यहाँ जिस अग्नि का उपास्य रूप में वर्णन किया गया है, वह ब्रह्म ही है। उसे भी सायणाचार्य 'जातवेदाः' का अर्थ 'सर्वविषयज्ञानवान् अग्निः' यह सर्वज्ञतासूचक करते हुए भी, भौतिक अग्नि देवतापरक ले लेते हैं। यह बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है। महर्षि दयानन्द ने यहाँ अग्नि से सर्वज्ञ परमेश्वर का ही ग्रहण किया है।

आधुनिक विद्वानों पर महर्षि दयानन्द का प्रभाव

यह प्रसन्नता की बात है कि महर्षि दयानन्द की इस प्रमाण सङ्गत युक्तियुक्त बात का कई आधुनिक धर्माभिमानी विद्वानों ने भी प्रवल समर्थन किया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेदसंहितोनिषच्छतकम् आदि विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के लेखक मण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द जी ने ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र अग्निमीडे पुरोहितम् की ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम् की अध्यात्म ज्योत्स्ना विवृति नामक टीका में वेद, उपनिषत् ब्राह्मण और निरुक्तादि के प्रमाणों को देकर अग्निम् का अर्थ 'अग्नि नामक परमात्मदेवम्।' (ईडे) स्तौमि स्तुतिं करोमि अर्थात् मैं अग्नि पदवाच्य परमात्मदेव की स्तुति करता हूँ—यही अर्थ किया है।

अग्नि से यहाँ भौतिक अग्नि का ग्रहण क्यों न किया जाय, इसका उत्तर देते हुए स्वामी महेश्वरानन्द जी ने ठीक ही लिखा है कि 'केवलस्य तस्य जड़स्यानुपास्यात्वात्' केवल उस जड़ अग्नि के अनुपास्य होने के कारण यहाँ उपासना प्रकरण में उसका ग्रहण नहीं हो सकता। 'कल्याण' गोरखपुर के जनवरी १९८५ के भक्तिविशेषांक में 'वेदों की संहिताओं में भक्तितत्त्व' पर लेख लिखते हुए भी स्वामी महेश्वरानन्द जी विद्यावारिधि, न्यायमार्तण्ड, वेदान्तवागीश ने लिखा है कि—

"अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्"

ऋग्वेद १०/७/३ ॥

अर्थात् 'अग्नि परमात्मा को ही मैं सदैव अपना पिता मानता हूँ। अग्नि को ही 'आपि' यानि अपना बन्धु मानता हूँ।' एवं अग्नि को ही भाई तथा सखा मानता हूँ। यहाँ यह याद रखना चाहिये कि वेदों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि अनेक नामों के द्वारा एक परमात्मा का वर्णन किया गया है। (कल्याण, भक्तिविशेषाङ्क ३४/३५)

दूसरे महाविद्वान् पण्डितराज परमहंस स्वामी भग्वदाचार्य जी हैं जिन्होंने सम्पूर्ण सामवेद का भक्तिपरक उत्तम भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा में किया है। उन्होंने भी अपने साम-संस्कार भाष्य के प्रारम्भ में—

'अग्न आयाहि वीतये' सामवेद १/१/१ के भाष्य (पृष्ठ ६) में अग्नि शब्द का निर्वचन 'अग्रम् उत्कृष्टं पदं भक्तं ज्ञानिनं वा नयतीत्यग्निः, अञ्जनमभिव्यक्तं प्रकाशस्वरूपं नयति प्रापयति स्वोपासकहृदयमिति वा। अङ्गति सर्वत्र गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति वा' इस प्रकार निरुक्तादि के आधार पर करते हुए लिखा है—"हे अग्ने त्वयि निरतांस्त्वद्भक्तान् ज्ञानिनो वात्युत्कृष्टं स्वं पदं प्रापयितः परमेश्वर" अर्थात् 'अपने में निरत भक्तों वा ज्ञानियों को अत्युत्तमपद प्राप्त कराने वाले परमेश्वर!' ऐसे ही इन्द्र, मित्र, वरुण, रुद्र, सोम आदि पदों की उन्होंने परमेश्वरपरक व्याख्या अपने भाष्य में की है। मैं इसे **महर्षि दयानन्द** का प्रभाव मानता हूँ। तीसरे विद्वान्, जिनका यहाँ उल्लेख करना उचित है पारसी विद्वान् दादा चान् जी B,A.,L.L.B. हैं, जिन्होंने Philosophy of Zoarastrianism and Comparative Study of Religions में ऋग्वेद के प्रथम अग्निसूक्त की व्याख्या करते हुए लिखा है 'Agni in this hymn means both Fire as well as God' (P. 100) अर्थात् अग्नि का अर्थ यहाँ भौतिक अग्नि और परमेश्वर है।

अग्नि का अर्थ विद्वान् नेता

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि अग्नि का अथ सर्वत्र परमेश्वर ही नहीं लिया जा सकता। वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनमें प्रकरणानुसार उसका अर्थ अग्रणी अर्थात् विद्वान् नेता, पुरोहित इत्यादि लेना ही सर्वथा उचित है और ऐसे ही विशेषणों का स्पष्ट प्रयोग है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों को लीजिये—

समद्धिमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचं पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम्।
विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम्॥

ऋग्वेद ६/१४/७॥

यहाँ अग्नि के विशेषण के रूप के शुचि, पावक, ध्रुव, विप्र, होता, पुरुवार, अद्रोह, कवि, जातवेदाः इन शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो भौतिक अग्नि, पर तो सर्वथा चरितार्थ वा सङ्गत ही नहीं होते, किन्तु विद्वान् ब्राह्मण नेता परक ही उनकी ठीक सङ्गति लगती है। किन्तु श्री सायणाचार्य पौराणिक संस्कारवश उसकी अग्निपरक व्याख्या इस रूप में करते हैं,—"(समिद्धम्) सम्यग् दीप्तम् (अग्निम्) (समिधा) समिन्धनहेतुभूतया (गिरा) स्तुत्या (गृणे) स्तौमि यद्वा (समिधा) समिद्धिर्दारुभिः समिद्धं सम्यग् दीप्तम् अपिच (शुचिम्) स्वयं शुद्धम् (पावकम्) सर्वेषां शोधकम् (ध्रुवम्) निश्चलम् तमग्निम् (अध्वरे) यज्ञे पुरस्करोमि इति शेषः। तथा (विप्रम्) मेधाविनम्, (होतारम्) देवानामाह्वातारम् (पुरुवारम्) बहुभिर्वरणीयम् (अद्रुहम्) अद्रोग्धारं सर्वेषामनुकूलं (कविम्)

क्रान्तदर्शिनम् (जातवेदसम्) जातानां वेदितारम् अग्नि (सुम्नैः) सुखकरैः स्तोत्रैः (ईमहे) भजामहे, यद्वा द्वितीयार्थे तृतीया सुम्नानि धनानीमहे याचामहे। (तिलक संस्थान सं० ४९ खण्डे पृ० ४६) सरल होने के कारण सम्पूर्ण भाषानुवाद की आवश्यकता नहीं। स्वयं सायणाचार्य मन्त्र में अग्नि के लिये प्रयुक्त विशेषण 'विप्र' का अर्थ मेधावी, कवि का अर्थ क्रान्तदर्शी तथा जातवेदाः का अर्थ जात वा उत्पन्न पदार्थों का जानने वाला, यह करते हुए भी इस मन्त्र को यज्ञाग्निपरक मानते हैं और उसकी स्तुति का प्रतिपादन करते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। ये तथा मन्त्र में प्रयुक्त अन्य विशेषण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि विप्र, कवि, जातवेदाः, ध्रुव, शुचि, पावक इत्यादि पदवाच्य अग्नि विद्वान् तत्त्वदर्शी, धर्म-कर्म में ध्रुव अथवा निश्चल ब्राह्मण नेता है, न कि यज्ञाग्नि जिसमें ये विशेषण सर्वथा सङ्गत नहीं हो सकते।

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ निम्नरीति से किया है—"(समिद्धम्) देदीप्यमानम् (अग्निम्) (समिधा) इन्धनेनेव (गिरा) वाण्या (गृणे) (शुचिम्) पवित्रम् (पावकम्) पवित्रकर्तारम् (पुरः) पुरस्तात् (अध्वरे) अहिंसामये यज्ञे (ध्रुवम्) निश्चलम्) (विप्रम्) विद्याविनयाभ्यां धीमन्तम् (होतारम्) (पुरुवारम्) पुरुभिर्विद्वद्भिः स्वीकृतम् (अद्रुहम्) द्रोहरहितम् (कविम्) पूर्णविद्यम् (सुम्नैः) सुखैः (ईमहे) याचामहे (जातवेदसम्) जातविद्यम्।

भावार्थ :—यूयं सत्यप्रकाशकेभ्यो विद्वद्भ्यो विद्यां याचध्वम्। एतां प्राप्यान्येभ्यो दत्त।"

यहाँ यह बात विशेष ध्यान योग्य है कि **महर्षि दयानन्द** ने यज्ञाग्निपरक अर्थ की सर्वथा उपेक्षा नहीं की किन्तु अन्वय में यह स्पष्ट किया है कि 'समिधा समिद्धमग्निमिव वर्तमानम् अध्वरे ध्रुवं

शुचिं पावकं होतारं पुरुवारमद्रुहं जातवेदसं विप्रं गिरा पुरो गृणे' अर्थात् मैं समिधाओं से प्रदीप्त अग्नि की तरह वर्तमान अहिंसात्मक यज्ञ में निश्चल, स्वयं पवित्र और दूसरों को पवित्र करने वाले, हवनादि करने वाले तथा दानी, बहुत विद्वानों द्वारा नेता रूप में स्वीकृत, द्रोहरहित, पूर्ण विद्यासम्पन्न ज्ञानी की मैं वाणी द्वारा स्तुति करता हूँ, वैसे ही तुम भी करो ।

भावार्थ :—तुम सत्य को प्रकाशित विद्वानों से विद्या की याचना करो और इसे प्राप्त करके अन्यों को भी दो ।

इस प्रकार **महर्षि दयानन्द** ने विशेषणों के आधार पर यहाँ अग्नि को ज्ञानी प्रिय अर्थात् मेधावी (विप्र इति मेधाविनाम निघण्टु ३'१५) नेता के अर्थ में लिया है, जो सर्वथा समुचित है और श्री सायणाचार्य का उसे यज्ञाग्नि परक लेना असङ्गत और उपहासजनक है। कुछ उदाहरण भी देखिये। ऋग्वेद ४/६/२ में मन्त्र आया है—

अमूरो होता न्यसादि विक्षु अग्निर्मन्द्रो विदथेषु प्रचेताः ।

यहाँ अग्नि के लिये अमूर, होता, प्रचेताः इन शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि ऐसे अग्नि को प्रजाओं में अनेक कल्याणार्थ स्थापित किया जाता है और वह अग्नि आनन्ददायक होता है। अमूर, प्रचेताः आदि का अर्थ भी सायणाचार्य इस प्रकार करते हैं—

"(अमूरः) अमूढः प्रगल्भः इत्यर्थः (होता) होमनिष्पादकः (मन्द्रः) मदनीयः मादयिता वा (प्रचेताः) प्रकृष्टज्ञानः । (अग्निः) देवः (विक्षु) ऋत्विग्रूपासु प्रजासु मध्ये (विदथेषु) यागेषु निमित्तभूतेषु (न्यसादि) नितरां स्थापितः ।"

अर्थात् अमूढ–अत्यन्त चतुर, हवनादि करने वाले आनन्ददाता प्रकृष्टज्ञान वाले अग्निदेव को ऋत्विग् रूपी प्रजाओं में रखा गया है। यज्ञाग्नि पर ये अत्यन्त चतुर, हवन करने वाला इत्यादि विशेषण सर्वथा सङ्गत नहीं होते, यह बात विचारशीलों की दृष्टि में स्पष्ट है। वेंकट–माधव ने भी अपने भाष्य में 'अमूरः' का अर्थ 'अमूढः' और 'प्रचेताः' का प्रकृष्टज्ञानः यही किया है। अतः उस पर भी उपर्युक्त आक्षेप समान रूप से लागू होता है। **महर्षि दयानन्द** ने अमूर, प्रचेताः होता, विक्षु आदि को ध्यान में रखते हुए मन्त्र की विद्वान् राजपरक व्याख्या की है और 'अमूरः' का अर्थ अमूढ़ो विद्वान् सन् (होता) आदाता (मन्द्रः) आनन्दप्रदः (प्रचेताः) प्राज्ञः प्रज्ञापकः (अग्निः) पावक इव, इत्यादि करते हुए भावार्थ में लिखा है—

यदि मनुष्याः सूर्यवत् प्रतापिनम् अग्निवद् दुष्टप्रदाहकं न्याय–विनयाभ्यां प्रजासु चन्द्र इव संग्रामे विजेतारं राजानं संस्थापयेयुः तर्हि कदाचिद् दुःखं न प्राप्नुयुः" अर्थात् यदि लोग सूर्य की तरह प्रतापी, अग्नि की तरह तेजस्वी, दुष्टों के दाहक न्यायविनययुक्त विजयी राजा को प्रजाओं के मध्य में स्थापित करें तो लोग कभी दुःख न पाएं।

इस प्रकार एक सुसङ्गत राजनीतिसूचक अर्थ मन्त्र से निकलता है, जो उपादेय है। ऋग्वेद ४/३/४ में अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा है **'त्वम् चित्रः शम्या अग्ने अस्या ऋतस्य बोध्यृत चित् स्वाधीः।'** यहाँ अग्नि के लिये ऋत, चित्, स्वाधी ये विशेषण आये हैं और उसके साथ 'बोधि' क्रिया का प्रयोग है। श्री सायणाचार्य इनका अर्थ अपने भाष्य में इस प्रकार करते हैं—

"हे (ऋत चित्) सत्यज्ञ अग्ने (स्वाधीः) सुकर्मा सुध्यातो वा त्वम् (ऋतस्य बोधि) अस्मदीयं स्तोत्रं बुध्यस्व।'

अर्थात् हे सत्य को जानने वाले अग्ने, उत्तमकर्म वा ध्यान वाला तू हमारी स्तुति को समझ।

एक तो ऋत का स्तोत्र यह अर्थ ही कल्पित है। उसके सत्य, यज्ञ, अचल नियम तथा वेद ये अर्थ होते हैं। यदि उसे कथंचित् ठीक भी मान लिया जाय तो भी यह बात क्या बनी ? यह भौतिक यज्ञाग्नि कैसे सत्य को जानने वाला और उत्तम रीति से ध्यान करने वाला है ? वह कैसे हमारी स्तुतियों को समझ सकता है ? वेंकट माधव ने भी इस मन्त्र को भौतिक यज्ञाग्निपरक मानकर यह अर्थ किया है—"त्वम् एव अग्ने अस्मान् यज्ञस्य, अस्याः स्तुतेः कर्मणे समर्थान् कुरु कृत्वा च तां बुध्यस्व शोभनाध्यानः।',

यहाँ भी 'ऋत' का अर्थ स्तुति किया गया है 'ऋत चित्' का अर्थ छोड़ दिया गया है। 'स्वाधीः' का अर्थ उत्तम ध्यान वाला करते हुए अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह स्तुति के कर्म के लिये समर्थ बनाये और हमारी उस स्तुति को समझे। विद्वान् ही निष्पक्ष भाव से विचार करें कि यह सब कितनी असङ्गत उपहासजनक बात है।

अब **महर्षि दयानन्दकृत** अर्थ को देखिये : "हे (अग्ने) पावकवद् बर्तमान त्वम् नः अस्याः प्रजायाः (ऋतस्य) सत्यस्य (शम्यै) कर्मणे (स्वाधीः) यः सुष्ठु समन्ताच्चिन्तयति (ऋतचित्) यः ऋतं सत्यं चिनोति सः सन् (बोधि) बुध्यस्व।"

भावार्थ :—हे राजन्, त्वं यदा प्रजायाः सत्यं न्यायं करिष्यसि, तदैव तवाज्ञायां वर्तित्वा प्रजा एकमता भविष्यन्ति।"

अर्थात् हे अग्नि की तरह वर्तमान राजन्, तू उत्तम विचारशील और सत्य का सर्वदा ग्रहण करने वाला होकर प्रजा के कल्याण कर्म के

लिये उसके सत्य न्याय को जान तथा ऐसा व्यवहार कर जिसमें तेरी आज्ञा में रहकर प्रजा एकमत हो सके ।

यहाँ किसी प्रकार की कोई खींचातानी नहीं की गई, किन्तु ऋतमिति सत्यनाम निघण्टु २/१० के अनुसार ऋत का दोनों जगह सत्य ही अर्थ लेकर राजा के कर्त्तव्य का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है, जो सर्वथा सुसङ्गत है।

●●●

अग्नि–पुरोहित

ऋग्वेद १/४ में मन्त्र आया है जिसमें अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा है—

अग्ने पूर्वा अनूषसो विभावसो दीदेथ विश्वदर्शतः ।
असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः ॥

ऋग्वेद १/४४/१० ॥

इस मन्त्र में अग्नि को विभावसु, विश्वदर्शत, ग्रामेष्वविता, पुरोहित और मानुष इन शब्दों के साथ प्रयुक्त किया गया है। जिनका अर्थ प्रकाशमान, तेजस्वी, सबके लिये दर्शनीय, ग्रामों में रक्षक, पुरोहित, सच्चा मनुष्य ऐसा कहा गया है। इतने स्पष्ट अग्नि को पुरोहित मनुष्यसूचक शब्द होते हुए भी श्री सायणाचार्य तथा अन्य मध्यकालीन भाष्यकार उसको भौतिक यज्ञाग्निपरक समझने का उपहासजनक प्रयास

करते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। श्री सायणाचार्य अपने भाष्य में लिखते हैं—"हे (विभावसो) विशिष्टप्रकाशरूपवन् अग्ने (विश्वदर्शतः) सर्वैर्दर्शनीयस्त्वम्—(ग्रामेषु) जननिवासस्थानेषु (अविता असि) रक्षको भवसि (यज्ञेषु) अनुष्ठेयकर्मसु (पुरोहितः) पूर्वस्यां दिश्यवस्थितः (मानुषः असि) ऋत्विग्यजमानानां मनुष्याणां हितोऽसि ।"

यहाँ वे पुरोहित का सुप्रसिद्ध मनुष्य पुरोहितपरक अर्थ न करके, जिसके लिये मनुष्य शब्द का भी स्पष्ट प्रयोग है, उसका अर्थ पूर्व दिशा में स्थापित और मनुष्यों का मनुष्यों के लिये हितकारक, ऐसा अर्थ ले लेते हैं।

वेंकट माधव भी मन्त्र को यज्ञाग्निपरक मानते हुए पुरोहित का अर्थ पुरोनिहितः और मानुषः का अर्थ मनुष्यहितः करते हैं। स्कन्द स्वामी पुरोहित का अर्थ पुरोहितस्थानीयः और मानुषः का अर्थ मन्ता ज्ञाता है अथवा मानुष इति षष्ठी मानुषस्य स्वभूतेषु यज्ञेषु, ऐसा लिख कर भी यज्ञाग्निपरक ही करते हैं। किन्तु **महर्षि दयानन्द** इस तथा अन्य मन्त्रों में दिये विशेषणों 'अग्निर्वाव पुरोहितः।' ए० ८/२७० ऐतरेय ८/२७ अग्निर्वै ब्रह्मा। षड्विंशब्राह्मण १/१ पुरुषोऽग्निः श० १०/१/२/३ इत्यादि प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए उसका सीधा सुप्रसिद्ध अर्थ पुरोहित करते हुए कहते हैं:—"हे (अग्ने) विद्याप्रकाशक विद्वन् (विश्वदर्शतः) सर्वैः संप्रेक्षितुं योग्यः (असि) (ग्रामेषु) मनुष्यादिनिवासेष (अविता) रक्षणादिकर्ता (पुरोहितः) सर्वसाधनसुखसम्पादयिता (असि) (यज्ञेषु) अश्वमेधादिशिल्पान्तेष (मानुषः) मनुष्याकृतिः ......।

भावार्थ:—"विद्वान् सर्वेषु दिनेष्वेकं क्षणमपि व्यर्थं न नयेत् सर्वोत्तमकार्यानुष्ठानयुक्तानि सर्वाणि दिनानि जानीयादेवमेतानि ज्ञात्वा

प्रजारक्षको यत्रानुष्ठाता सततं भवेत् ।"

अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण इसका भाषानुवाद अनावश्यक है। विद्याप्रकाशक पुरोहित मनुष्य के अर्थ में अग्नि का प्रयोग यहाँ स्पष्ट है। यद्यपि मध्यकालीन पौराणिक भाष्यकारों ने इस बात को न समझ कर यज्ञाग्निपरक व्याख्या कर दी है। इस प्रकार **महर्षि दयानन्द** के वेदभाष्य का वैशिष्ट्य और उनकी दिव्यदृष्टि सूचित होती है ।

शिक्षा-विषयक मन्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन

यजुर्वेद के २३वें अध्याय के कुछ मन्त्रों में वस्तुतः शिक्षा सम्बन्धी अत्युच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु जिनकी उवट, महीधरादि भाष्यकारों तथा उनके अनुयायी ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अश्वबलिपरक व्याख्या करके घोर अनर्थ किया है।

पाठक पक्षपातरहित होकर इन मन्त्रों के अर्थों पर विचार करेंगे तो उन्हें **महर्षि दयानन्द** के भाष्य की विशेषताओं और मध्यकालीन उवट, महीधरादि तथा उनके अनुयायी पाश्चात्य भाष्यकारों की भूलों का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा ।

यजुर्वेद २३/३९ में निम्न मन्त्र आया है—

कस्त्वा छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि ।
शम्यति क उ ते शमिता कविः ॥

उव्वट लिखते हैं कि कस्त्वा छ्यति इत्यादि छः मन्त्रों का पाठ करके चर्बी निकालने के लिये घोड़े के पेट को फाड़ा जाये (अश्वोदरं पाटयति मेदस उद्धरणाय) अश्वदेवत्याः षड् ऋचः। हे अश्व ! (कः) प्रजापतिः त्वाम् (छ्यति) छिनत्ति, छो छेदने । हे अश्व ! (कः त्वा विशस्ति) त्वचां वियोजयति (ते) तव (गात्राणि) (कः शम्यति) शमनेन हविः करोति (कः) कश्च प्रजापतिरेव (कविः) मेधावी (ते) तव (शमियता) शमयिता प्रजापतिरेव सर्वं करोति नाहमित्यर्थः ।

यजुर्वेद, उव्वटभाष्य, २३/३९।

अर्थात् घोड़े के पेट को फाड़कर घोड़े को सम्बोधित करते हुए कहा जाता है कि हे अश्व ! प्रजा का पालक परमेश्वर ही तुझे काटता है, वही तुझे त्वचा से वियुक्त करता है—तेरी खाल उतारता है। वही तेरे अङ्गों की आहुति देता है। इस प्रकार मेधावी वह प्रजापति परमेश्वर ही सब कुछ करता है, मैं नहीं। महीधर ने भी अक्षरशः उव्वट भाष्य के अनुसार अर्थ किया है। एक शब्द का भी परिवर्तन नहीं किया। अतः उसको उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं।

अपने समय के सुप्रसिद्ध पौराणिक विद्वान् पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अपने यजुर्वेद के अनुवाद में उव्वट-महीधर के भाष्यों का अनुसरण करते हुए इस मन्त्र का 'अश्वविशसने विनियोगः' अर्थात् घोड़े के काटने में विनियोग मानते हुए निम्न अनुवाद किया है—

हे अश्व ! (कः) कौन प्रजापति (त्वा) तुझको (आच्छ्यति) छेदन करता है (कः) कौन (त्वा) तुझको (विशस्ति) त्वचा वा आवरण से पृथक् करता है (कः) कौन (ते) तुम्हारे (गात्राणि) शरीर को (शम्यति) शमन व हवि करता है (मेधावी) बुद्धिसम्पन्न (कः) प्रजापति

(उ) ही (ते) तेरा (शमिता) शमित व मोक्ष करने वाला है। सब कुछ प्रजापति ही करता है, मैं नहीं करता।

उव्वट और महीधर का ही अन्धानुसरण करते हुए मिस्टर ग्रिफिथ ने अपने यजुर्वेद के अंग्रेजी अनुवाद में इस मन्त्र का निम्न अनुवाद करते हुए टिप्पणी दी है—

O horse ? Who flays thee ? Who dissects thee ? Who prepares thy limbs for sacrifice ? Who is the sage that slaughters thee ?

"Who or ka that is prajapati himself performs these sacrificial operations and not I the human priest."

Texts of the white Yajurveda
Translated by Griffith P. 214

अर्थ और टिप्पणी उव्वटभाष्यानुसार ही है। जिसका तात्पर्य है कि क अर्थात् प्रजापति परमेश्वर ही तुझ घोड़े को मारने, खाल उतारने और अग्नि में तेरे अङ्गों की आहुति देने का सब कार्य करता है, मैं मनुष्य पुरोहित नहीं।

यह कितनी वाहियात बात है कि स्वयं अश्व की हत्या करके और उसके अङ्गों की आहुति अग्नि में डाली जाय, उसकी खाल उतारी जाय और फिर मरे हुए घोड़े को कहा जाय कि यह सब कार्य प्रजा का पालक परमेश्वर कर रहा है, इससे बढ़कर असङ्गत बात और क्या हो सकती है ? अब इसके वास्तविक अर्थ को देखिये जिसका निर्देश **महर्षि दयानन्द** ने अपने भाष्य में किया है। **महर्षि दयानन्द** ने इसका देवता

का प्रतिपाद्य विषय 'अध्यापक' लिखते हुए कहा है कि 'पुनरध्यापका विद्यार्थिना कीदृशीं परीक्षां गृह्णीयुरित्याह'—अर्थात् फिर अध्यापक विद्यार्थियों की कैसी परीक्षा लें, यह इस मन्त्र में बताया गया है। उनके अनुसार मन्त्रार्थ इस प्रकार हैं :—

पदार्थ :—(कः) (त्वा) त्वाम् (आच्छ्यति) समन्ताच्छिनत्ति (कः) (त्वा) (विशास्ति) विशेषेणोपदिशति (कः) (ते) तव (गात्राणि) अङ्गानि (शम्यति) शाम्यति शमं प्रापयति (कः) (उ) वितर्के (ते) तव (शमिता) यज्ञस्यकर्त्ता (कविः) सर्वशास्त्रवित्।

अन्वय :—हे अध्येतस्ते क आच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति क उ ते शमिता कविरध्याकोऽस्ति ?

भावार्थ :—अध्यापका अध्येतॄन् प्रत्येवं परीक्षायां पृच्छेयुः के युष्माकम् अध्ययनं छिन्दन्ति को युष्मानध्ययनायोपदिशन्ति केऽङ्गानां शुद्धि योग्यां—चेष्टां च ज्ञापयन्ति कोऽध्यापकोऽस्ति किमधीतं किमध्येतव्यम-स्तीत्यादि पृष्ट्वा सुपरीक्ष्योत्साह्याधमान् धिक् कृत्वा विद्यामुन्नयेयुः।

अर्थात् :—हे पढ़ने वाले विद्यार्थिजन ! तुझे कौन छेदन करता अर्थात् तेरी पढ़ाई में विघ्न डालता है ? कौन तुझे विशेषरूप से अच्छी तरह सिखाता है ? कौन तेरे अङ्गों को शान्ति पहुँचाता और कौन तेरा यज्ञ करने वाले (शान्तिदाता) समस्त शास्त्रों का ज्ञाता अध्यापक है ?

भावार्थ :—अध्यापक लोग पढ़ने वालों से प्रश्न करें कि कौन तुम्हारे पढ़ने में विघ्न डालते हैं, कौन तुझको पढ़ने के लिये भली-भांति उपदेश देते हैं ? कौन तुम्हें अङ्गों की शुद्धि और योग्य चेष्टा का ज्ञान कराते हैं ? तुमने क्या पढ़ा है, क्या-क्या और पढ़ना है इत्यादि पूछकर

अच्छी प्रकार परीक्षा करके उत्तम विद्यार्थियों को उत्साह देकर और दुष्ट स्वभाव वालों को धिक्कार देकर विद्या की उन्नति करावें।

अब विचारशील पक्षपातरहित विद्वान् देखे कि इन दोनों अर्थों में कितना आकाश-पाताल का अन्तर है? कहाँ घोड़े की हिंसा करके उस मरे हुए घोड़े को कहना कि प्रजा-पालक परमेश्वर ने तुझे काटा है, उसी ने तेरी खाल उतारी है और तेरे अङ्गों की अग्नि में आहुति दी है, मैंने नहीं (अपने हिंसा के पाप को प्रजापति परमेश्वर के सिर पर मढ़ना) और कहाँ आचार्य तथा अध्यापकों के विद्यार्थियों के भली-भांति निरीक्षण और उनके दोषनिवारणपूर्वक विद्या वृद्धि के प्रयत्न का प्रतिपादक सुन्दर उपदेश! वस्तुतः कात्यायनादि के नाम से कल्पित विनियोग और विशसन तथा शमिता के अर्थ को ठीक न समझने से ही यह अनर्थ हुआ। विशस्ति का सीधा अर्थ बिशेष रूप से ज्ञान देना है। शासु (अनुशिष्टो अनुशिष्टिर्विविच्य ज्ञापनम्) अदा० पर०। उसका काटता है, यह अर्थ अयुक्त है। शम्यति का अर्थ शान्ति पहुँचाता है, यही स्पष्ट है। हिंसापरक अर्थ कल्पित है। यही बात शमिता के विषय में है, जिसका अर्थ शान्तिदाता अथवा शान्तियज्ञ को करने वाला है। विनियोग के विषय में महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ठीक ही लिखा है कि—

तस्मादयुक्तिसिद्धवेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतो विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति ॥

अर्थात् :—ब्राह्मण, श्रौत्रसूत्रादि का वही विनियोग ग्रहण करने योग्य है जो युक्तिसिद्ध वेदादि प्रमाण के अनुकूल और मन्त्रार्थ के अनुसार हो, अन्य नहीं। मैं यजुर्वेद के तुलनात्मक गम्भीर अनुशीलन के

पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि मन्त्रों के प्रायः कात्यायनादि के नाम से प्रचलित असङ्गत वस्तुतः मन्त्रार्थ के विरुद्ध विनियोगों के कारण ही मध्यकालीन भाष्यकार सरल और सुस्पष्ट मन्त्रों के भी अर्थ का अनर्थ कर गये हैं। इसलिये **महर्षि दयानन्द** ने उन कल्पित विनियोगों की उपेक्षा करके मन्त्रों के वास्तविक तथा सार्वभौम शिक्षाप्रद अर्थों का निर्देश किया है। मैं इसे **महर्षि** के भाष्य की बड़ी विशेषता समझता हूँ।

अब इसके अगले मन्त्रों को तुलनात्मक दृष्टि से देखिये।

ऋतवस्त्वा ऋतुथा पर्व शमितारो विशासतु।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ यजुर्वेद २३/४० ॥

उव्वट और महीधर ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—हे अश्व ! (ऋतवः) शमितारः (ऋतुथा) ऋतौ-ऋतौ काले-काले तव (पर्व) पर्वाणि अस्थिग्रन्थीन् (शमीभिः) कर्मभिः (विशासतु) भिन्नानि कुर्वन्तु। केन (संवत्सरस्य) संवसरात्मकस्य कालस्य (तेजसा) किंच (ऋतवः) (त्वा) त्वां (शम्यन्तु) पर्वविशसनेन हविः कुर्वन्तु। महीधर भाष्य में जैसे कि उसकी चोरी की आदत प्रायः सर्वत्र प्रतीत होती है। उव्वटभाष्य को अक्षरसः उद्धृत कर दिया है अतः उसे दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि हे घोड़े ! ऋतुएं शमन (इन भाष्यकारों के अनुसार) हिंसा करने वाली हैं। वे समय-समय पर तुम्हारी हड्डियों को तोड़कर उनकी हवि या आहुति दें। महर्षि दयानन्द जी ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है—पुनः स्त्रीपुरुषाः कथं वर्त्तेरन्नित्याह !—

पदार्थ :—(ऋतवः) वसन्ताद्याः (ते) तव (ऋतुभ्यः) (पर्व) पालनम् (शमितारः) अध्ययनाध्यापनाख्ये यज्ञे शमादिगुणानां— प्रापकाः

(विशास्तु) विशेषेणोपदिशन्तु (संवत्सरस्य) (तेजसा) जलेन तेज इत्युदकनाम निघण्टु १/१२ (शमीभिः) कर्मभिः (शम्यन्तु) (त्वा) त्वाम् ।

अन्वय :—हे विद्यार्थिन् ? यथा ते ऋतवः ऋतुथा पर्वेव शमितारोऽध्येतारो विशासतु संवत्सरस्य तेजसा शमीभिस्त्वा तांस्त्वं सदैव सेवस्व ।

भावार्थ :—यथा ऋतवः पर्यायेण स्वानि-स्वानि लिङ्गान्यभिपद्यन्ते तथैव स्त्री-पुरुषाः पर्यायेण ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ–संन्यासाश्रमान् कृत्वा ब्राह्मणब्राह्मण्यश्चाध्यापयेयुः । क्षत्रियाः प्रजा रक्षान्तु, वैश्याः कृष्यादिकमुन्नयन्तु, शूद्राश्चैतान् सेवन्ताम् ।

अर्थात् :—जैसे ऋतुएं क्रम से अपने-अपने चिह्नों को प्रकट करती हैं, वैसे स्त्री-पुरुष क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों को ग्रहण कर ब्राह्मण और ब्राह्मणियाँ अध्यापन करें, क्षत्रिय प्रजाओं की रक्षा करें, वैश्य कृषि आदि को उन्नत करें और शूद्र इनकी सेवा करें ।

इस प्रकार मन्त्र में ऋतुओं के दृष्टान्त से वर्णाश्रम धर्मविषयक कितनी सुन्दर शिक्षा दी गई है । जबकि उव्वट, महीधरादि के पथानुगामी ग्रिफिथ ने—

In due time let the seasons as they slaughters devide thy joints:

And with the Splendour of the year Sacrifice thee with holy rites.

Texts of the white Yajurveda
Translated by Griffith P. 224

इस रूप में अक्षरशः उव्वट और महीधर का ही अविवेकपूर्व अनुसरण किया है। ऋतुओं के घोड़े की हड्डियों के जोड़ों के तोड़ने की वेहूदी बात है, जिसका कोई भी बुद्धिमान् उपहास किये बिना नहीं रह सकता। यहाँ भी विशासतु और शम्यन्तु इत्यादि के 'विशेषरूप से उपदेश करें' और 'शान्त करें' इस सीधे अर्थ को छोड़ हिंसापरक अर्थ करने से यह अनर्थ हुआ है।

अब हम इससे अगले २३/४१ मन्त्र को लेते हैं जो निम्नलिखित है :–

अर्द्धमासाः परूंषि ते मासा आच्छ्यन्तु शम्यन्तः ।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु ते ॥
यजुर्वेद २३/४१ ॥

इसका उव्वट भाष्य निम्न प्रकार है :—

'(अर्धमासाः) पक्षा मासाश्च तदभिमानिनो देवाः (शम्यन्तः) संस्कुर्वन्तः, हे अश्व ! (ते) तव (परूंषि) पर्वाणि (आच्छ्यन्तु) किंच (अहोरात्राणि) अहोरात्राभिमानिदेवाः (मरुतः) च देवाः (ते) (विलिष्टम्) लिश् अल्पीभावे विशेषेण अल्पमङ्गं तव (सूदयन्तु) सन्दधतु सूद निरासे, अत्र सन्धानार्थः, व्यर्थं मास्तु। महीधरभाष्य में भी अक्षरसः उव्वट को उठाकर रख दिया गया है।

उवट और महीधर भाष्यानुसार मन्त्र का अर्थ यह बताता है कि हे अश्व ! पक्ष और मास के अभिमानी देव संस्कार करते हुए तेरे जोड़ों को चारों ओर से काटें और फिर देव जो तोड़ा अङ्ग है उसको जोड़ दें। अब पाठक विचार करें कि यह बात क्या बनी ? पक्ष और मास के अभिमानी देव घोड़े के जोड़ों को चारों ओर से तोड़ दें, यह क्या असङ्गत बात मारे जाते हुए घोड़े को सम्बोधन करके कही जा रही है ?

ग्रिफिथ ने भी इन दोनों का ही अनुसरण निम्न अंग्रेजी अनुवाद में किया है :–

Let the half months and let the months, while Sacrificing, Flay thy limbs. Let day and night and maruts mend each fault in sacrificing thee.

यहाँ ग्रिफिथ साहब ने चतुर्थ चरण के अनुवाद में एक बात अधिक जोड़ दी है जो उव्वट और महीधर के भाष्य में अस्पष्ट थी कि तेरी बलि चढ़ाने में जो त्रुटि रह गई हो उसको दिन-रात और मरुत् देवता ठीक कर देंगे। अब महर्षि दयानन्दकृत अर्थ को देखिये—

पदार्थ :—(अर्धमासाः) कृष्णशुक्लपक्षाः (परूंषि) कठोरवचनानि (ते) तव (मासाः) चैत्रादयः (आ) समन्तात् (छ्यन्तु) छिन्दन्तु (शम्यन्तः) शान्तिं प्रापयन्तः (अहोरात्राणि) (मरुतः) मनुष्याः (विलिष्टम्) विरुद्धम् अल्पमपि व्यसनम् (सूदयन्तु) दूरीकारयन्तु (ते) तव ।

अन्वय :—हे विद्यार्थिन् ! अहोरात्राणि अर्धमासा मासाश्च वायूंषीव तव परूंषि शम्यन्तो मरुतोदुर्व्यसनात् छ्यन्तु ते तव मासा विलिष्टं सूदयन्तु ।

भावार्थ :—यदि मातापित्रध्यापकोपदेशकातिथयो बालानां दुर्गुणान्न निवर्तयेयुस्तर्हि ते शिष्टाः कदाचिन्न भवेयुः ।

तात्पर्य यह है कि यह सम्बोधन मारे जाने वाले घोड़े को नहीं अपितु विद्यार्थी को किया जा रहा है। उसे कहा जा रहा है कि माता पिता, अध्यापक और अतिथि तेरे कठोर वचनों तथा सब छोटे से छोटे

व्यसनों को भी क्रम से काटते व दूर करते जाएं। इस प्रकार व्यसन रहित बनाकर वे तुझे शान्ति पहुँचाएँ। यहाँ घोड़े के अङ्गों को काटने की शिक्षा नहीं, किन्तु विद्यार्थी के परुष कठोर वचनों (परु और परुष एक ही धातु के रूप हैं) को काटने और उसके छोटे-बड़े सब दुर्व्यसनों को दूर करने की है। जो शिक्षा की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। निष्पक्ष पाठक विचार करें कि इन दो प्रकार के अर्थों में कितना आकाश-पाताल का अन्तर है और वेदों की दृष्टि से (जो सायण, उव्वट, महीधरादि सब भारतीय भाष्यकारों द्वारा सम्मत है) कौन सा अर्थ उपादेय है?

अब हम इसके अगले मन्त्र २३/४२ का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

दैव्या अध्वर्यवस्त्वाच्छ्यन्तु वि च शास्तु।
गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः॥ यजुर्वेद २३/४२॥

इसका उव्वटकृत भाष्य निम्न प्रकार है :—

देवानामिमे दैव्याः आश्विनौ देवानामध्वर्यू इत्युक्तत्वात् अश्वि-प्रभृतयो देवसम्बन्धिनोऽध्वर्यवः। हे अश्व! (त्वा) आछ्यन्तु आच्छिन्दन्तु (विशासतु) च हविः कुर्वन्तु किंच तव (गात्राणि) विभक्तिव्यत्ययः गात्रेषु शरीरेषु (पर्वशः) पर्वणि—पर्वणि (सिमाः) सीमाः मर्यादाः (कृण्वन्तु) कृ करणे स्वादिः कीदृशीः सीमाः (शम्यन्तीः) संस्कुर्वाणाः।

महीधर ने जो भी अक्षरशः इसी भाष्य को उद्धृत कर दिया। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया है—

हे अश्व! देव सम्बन्धी अध्वर्यु अश्विकुमार तेरा छेदन करें (काटें) और विशसन करते (काटते हुए) हवि का सम्पादन करें।

संस्कार करती हुई सीमाएं तेरे गात्रों को छिन्न-भिन्न करें ।

यहाँ फिर विशासतु का अर्थ 'विशेष रूप से उपदेश करना' यह छोड़कर काटने वाला किया गया है और घोड़े के अङ्गों की आहुति देने का विधान इन मध्यकालीन भाष्यकारों ने कर दिया है । जब घोड़े को काटा ही जा रहा है तो उसके लिये मर्यादा स्थापित करने और उसे शान्ति पहुँचाने का अर्थ ही क्या रह जाता है ?

ग्रिफिथ ने भी ठीक इसका अनुसरण करते हुए अनुवाद कर दिया है, जो निम्न है—

Let the divine Adhvaryus flay thy body and dissect thy frame.

And let the Sacrificing lines prepare thy members joint by joint.

महर्षि दयानन्द कृत अर्थ को देखिये । वे विषय का निर्देश करते हुए लिखते हैं :—

'अथाध्यापकादयः कथं वर्तेरन्नित्याह' अर्थात् अब अध्यापकादि कैसे व्यवहार करें इसका उपदेश दिया जाता है ।

पदार्थ :—(दैव्याः) देवेषु विद्वत्सु कुशलाः (अध्वर्यवः) आत्मनोऽहिंसाख्ययज्ञमिच्छन्तः (त्वा) त्वाम् (आच्छ्यन्तु) छिन्दन्तु (वि च शासतु) उपदिशन्तु (गात्राणि) अङ्गानि (पर्वशः) सन्धितः (ते) तव (सिमाः) प्रेमबद्धाः (कृण्वन्तु) (शम्यन्तीः) दुष्टस्वभावं निवारयन्त्यः ।

अन्वय :—हे विद्यार्थिन् विद्यार्थिनि वा, दैव्या अध्वर्यवः त्वा

विशास्तु च ते तव दोषान् आच्छ्यन्तु पर्वशो गात्राणि परीक्षन्तां सिमाः शम्यन्तीः सत्यो मातरोऽप्येवं शिक्षां कृण्वन्तु ।

भावार्थ :—अध्यापकोपदेशकातिथयो यदा बालकान् शिक्षये-युस्तदा दुर्गुणान् विनाश्य विद्यां प्रापयेयुरेवमध्यापिकोपदेशिका विदुष्यः स्त्रियोऽपि कन्याः प्रत्याचरेयुः । वैद्यकशास्त्ररीत्या शरीरावयवान् सम्यक् परीक्ष्यौषधानि प्रदद्युः ।

तात्पर्य यह है कि (अध्वर्यवः) अहिंसा रूप यज्ञ की इच्छा करने वाले विद्वान् विद्यार्थियों के दोषों को काटें । वे उनके अङ्गों की वैद्यक शास्त्र की रीति से अच्छी प्रकार परीक्षा करें । (शम्यन्ती) दुष्ट स्वभाव का प्रशमन अर्थात् निवारण करती हुई और शान्ति को देती हुई प्रेम-बद्ध माताएं भी कन्याओं को इसी प्रकार की शिक्षा दें ।

यहाँ भी विद्यार्थियों के स्थान पर घोड़े पर इसे लगाने और विशासतु–शम्यन्ती–इत्यादि शब्दों के सीधे 'उपदेश करें' तथा दुर्गुणों का प्रशमन करके शान्ति पहुँचाती रहें, इनके स्थान में हिंसापरक अर्थ ले लेने से कितना अनर्थ हो गया है और किस प्रकार की असङ्गत बात बन गई है, इसे विद्वान् लोग विचार करें । अध्वर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्त में यास्काचार्य ने १/८ में स्पष्ट कहा है कि 'अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः' अध्वर्यु का अर्थ वहाँ 'अध्वरं' युनक्तीति वा अध्वरं कामयत इति वा, किया गया है, अर्थात् अहिंसात्मक यज्ञ की कामना करने वाला अथवा उसकी व्यवस्था करने वाला । ऐसे अध्वर्यु शब्द का प्रयोग करते हुए फिर उसके साथ अश्वादि पशुओं के अङ्ग-अङ्ग काटने की बात जोड़ देना कितना असङ्गत और परस्पर विरुद्ध कथन हैं ! अतः **महर्षि दयानन्द** ने अध्वर्यु पद का

अहिंसारूप यज्ञ की रक्षा करते हुए—यह अर्थ देकर विशासतु का अर्थ उव्वट, महीधर, ग्रिफिथ आदि की तरह काटने वा काटे हुए अङ्गों की आहुति देने का अर्थ न करके जो विशेष रूप से उपदेश देने का किया है, वह सरल और सुसङ्गत है। इसके साथ छात्र-छात्राओं वा सन्तानों के दुर्गुण निवारण और समय-समय पर इनकी शारीरिक परीक्षा की बात कितनी महत्त्वपूर्ण है।

अब हम इसी २३वें अध्याय के ४३वें मन्त्र पर विचार करना चाहते हैं, जो निम्नलिखित है—

द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते।
सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया॥ यजुर्वेद २३/४३॥

इसका उव्वटकृत भाष्य इस प्रकार है :—(द्यौः) स्वर्गः (पृथिवी) (अन्तरिक्षम्) लोकत्रयाभिमानिनो देवा अग्निवायुसूर्याः (वायुः) शरीरस्थः प्राणादिः हे अश्व (ते) तव (छिद्रं पृणातु) वचनव्यत्ययः पृणन्तु पूरयन्तु यत् न्यूनं तत्पूरयन्तु किंच (नक्षत्रैः सह) नक्षत्रयुक्तः सूर्यः (ते) तव (साधुया) समीचीनं लोकं (कृणोतु) करोतु सूर्यस्ते उत्तमं लोकं ददात्वित्यर्थः।

घोड़े के अङ्गों को काटकर और उनकी आहुति अग्नि में देने के पश्चात् यह प्रार्थना असङ्गत है; पाठक इसका विचार करें। कर्म फलदाता भगवान् है। उसके स्थान में सूर्य से यह प्रार्थना की कि नक्षत्रों के साथ वह तुझे उत्तम गति देवे, उत्तम लोक में पहुँचाए, यह भी कितनी असङ्गत और उपहासजनक प्रार्थना है! अब महर्षि दयानन्दकृत अर्थ को देखिये। उनके अनुसार पूर्वमन्त्रवत् यहाँ सम्बोधन मारे जाते हुए अश्व को नहीं अपितु शिष्या वा अध्यापिका को है :—

पदार्थ :—(द्यौः) प्रकाशरूप विद्युत् (ते) तव (पृथिवी) भूमिः (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (वायुः) पवनः (छिद्रम्) इन्द्रियम् (पृणातु) सुखयतु (ते) तव (सूर्यः) सविता (नक्षत्रैः) (सह) (लोकम्) दर्शनीयम् (कृणोतु) (साधुया) साधु सत्यम् ।

अन्वय :—हे शिष्येऽध्यापिके वा यथा द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं वायुः सूर्यो नक्षत्रैः सह चन्द्रश्च ते छिद्रं पृणातु (ते) तव व्यवहारं साध्नोतु (ते) तव साधुया लोकं कृणोतु ।

भावार्थ :—यथा पृथिव्यादयः सुखप्रदाः सूर्योदयप्रकाशकाः पदार्थाः सन्ति तथैवाध्यापका उपदेशकाश्च अध्यापिका अप्युपदेशिकाश्च सर्वान् सन्मार्गस्थान् कृत्वा विद्याप्रकाशं जनयन्तु ।

तात्पर्य यह है कि जैसे पृथिवी आदि पदार्थ सुखदायक हैं और सूर्यादि प्रकाशक हैं वैसे ही अध्यापक, उपदेशक तथा अध्यापिकाएं और उपदेशिकाएं सबको सन्मार्ग पर चलाकर विद्या प्रकाश को उत्पन्न करें। विद्युत्, पृथिवी, आकाश और वायु तेरी इन्द्रियों को सुख देवें और सूर्य तेरे लिये सारे लोक को भली-भांति दर्शनीय बनाएं। सूर्य-प्रकाश से तुम सदा लाभ उठाते रहो। अब पाठक देखें कि इन दो प्रकार के अर्थों में कितना अधिक अन्तर हैं? कहाँ तो शिष्य-शिष्याओं के लिये यह शुभकामना कि पृथिवी, वायु, आकाशादि सब उनकी इन्द्रियों के लिये सुखदायीं हों और यह उपदेश कि अध्यापक, उपदेशक अथवा अध्यापिका, उपदेशिकाएं उनको उत्तम मार्ग पर चलाने वाली और विद्या प्रकाश को देने वाली हों और कहाँ घोड़े को मारकर उसकी त्रुटियों को पूरा करने की अग्नि–वायु–सूर्यादि से प्रार्थना? वेदों के महत्त्व की दृष्टि से कौन–सा अर्थ उपादेय है? यह विचारशील पाठक स्वयं विचार करें। हमें तो महर्षि दयानन्दकृत अर्थ ही सरल और सुसङ्गत प्रतीत

होता है। अब इस प्रकरण के अन्तिम अर्थात् ४४वें मन्त्र पर हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। यह मन्त्र निम्नलिखित है :–

शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः ।
शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव ॥ यजुर्वेद २३/४४ ॥

इसका उव्वटाचार्यकृतभाष्य इस प्रकार है :—

हे अश्व ! (ते) तव (परेभ्यः) उच्चेभ्यः अवयवेभ्यः शिरादिभ्यः (शम्) सुखम् (अस्तु) (अवरेभ्यः) अधःस्थेभ्यश्च पादादिभ्यः तवास्थिभ्यश्च शम् अस्तु (मज्जभ्यः) पृष्ठधातुभ्योऽपि शम् उ अस्तु किं वहुना तव (तन्वै) तन्वाः सर्वस्यापि शरीरस्य (शमु) सुखमेवास्तु। उ एवार्थे।

महीधर ने यहाँ भी अपने स्वभावानुसार उव्वट के भाष्य की अक्षरशः नकल कर ली है। अतः उसको उद्धृत करना अनावश्यक है। पं० ज्वालाप्रसाद ने उव्वट, महीधरभाष्य का ही अनुवाद निम्न शब्दों में किया है।

हे अश्व ! तुम्हारा हर अवयव अर्थात् शिर आदि से सुख हो अर्थात् तुम्हारे उत्तमाङ्ग हमारे लिये कल्याणकारी हों। नीचे स्थित कर–चरणादि गात्रों से वा अङ्गों को सुख हो। अस्थियों के निमित्त, मज्जा के निमित्त सुख हो वा इनसे हमारा मङ्गल हो। तुम्हारा शरीर सबके निमित्त सुखकारी हो वा तुम्हारे शरीर को सुख प्राप्त हो।

ग्रिफिथ ने भी इस मन्त्र का अंग्रेजी अनुवाद इसी आशय का किया है, सम्बोधन अश्व (Horse) को ही है।

Well be it with their upper parts, well with narrow and with all thy frame !

जहाँ तक इस मन्त्र के शब्दों के अर्थ का सम्बन्ध है उसमें कोई दोष वा आक्षेपयोग्य बात नहीं। ये शब्द इतने सरल और स्पष्ट हैं कि दूसरे अर्थ की कल्पना भी नहीं हो सकती। इसलिये जैसे कि, मैं अभी दिखाऊंगा, **महर्षि दयानन्द** ने भी शब्दों का अर्थ इसी प्रकार किया है किन्तु प्रश्न केवल विनियोग का है अथवा इस चीज का कि यह सब अङ्गों तथा समस्त शरीर के सुखकारी होने का आशीर्वाद किसको दिया जा रहा है। जहाँ उव्वट, महीधर, ग्रिफिथ आदि यह मानते हैं कि यह आशीर्वाद घोड़े के अङ्गों को काटकर उसकी आहुति अग्नि में देते हुए उसे दिया जा रहा है कि तेरे सिर, हाथ, पैर आदि सब अङ्गों को सुख प्राप्त हो तथा तू हमारे लिये कल्याणकारी हो (जिसकी असङ्गतता को अत्यन्त गूढ़ व्यक्ति भी समझ सकता है,) वहाँ **महर्षि दयानन्द** इस आशीर्वाद को विद्यार्थियों के लिये मानते हुए अर्थ करते हैं—

पदार्थ :—हे विद्यामिच्छो ! ते (परेभ्यः) उत्कृष्टेभ्यः (गात्रेभ्यः) (शम्) सुखम् (अस्तु) (अवरेभ्यः) मध्यस्थेभ्यो निकृष्टेभ्यो वा (शम्) (अस्थभ्यः) अस्थिभ्यः (मज्जभ्यः) (शम् उ अस्तु) (तन्वै) शरीराय (तव)।

अन्वय :—हे विद्यामिच्छो ! यथा पृथिव्यादितत्त्वं तव तन्वै शम् अस्तु परेभ्यः गात्रेभ्यः शम् उ अवरेभ्यः गात्रेभ्यः शम् अस्तु अस्थभ्यो मज्जभ्यः शम् अस्तु तथा स्वकीयैरुत्तमगुणकर्मस्वभावैरध्यापकास्तं शंकरा भवन्तु ।

भावार्थ :—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः—यथा मातापित्रध्यापकोपदेशकैः सन्तानानां दृढाङ्गानि दृढा धातवश्च स्युर्यैः कल्याणं कर्तुमर्हेयुस्तथाध्यापनीयमुपदेष्टव्यं च ।

तात्पर्य यह है कि हे विद्या की इच्छा करने वाले, पृथिवी आदि तत्त्व तेरे शरीर, तेरे ऊपर-नीचे के अङ्ग, अस्थि-मज्जा आदि सबके

5759

लिये सुखकारी हों तथा अपने उत्तम गुण कर्म स्वभाव के कारण अध्यापक तेरे लिये सुख–शान्तिदायक हों ।

भावार्थ :—माता-पिता अध्यापकों और उपदेशकों को ऐसा पढ़ाना और उपदेश करना चाहिये जिससे सन्तानों और विद्यार्थियों के अङ्ग और धातुएँ दृढ़ हों ।

इस प्रकार मैंने यजुर्वेद के २३वें अध्याय के ६ मन्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन विचारशील पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है, जिनके अशुद्ध विनियोग के कारण महान् अनर्थ हो गया है। **महर्षि दयानन्द** ने इनका 'अश्व' देवता नहीं माना। उनके अनुसार मन्त्र ३९ और ४२ का अध्यापक, मन्त्र ४० और ४१ का प्रजा और मन्त्र ४३ और ४४ का राजा देवता है। यदि कथञ्चित् अश्व, देवता मानने पर किसी को आपत्ति हो तो भी 'वीर्यं वा अश्वः'—शत० २।१।४।२३ के अनुसार उसका अर्थ वीर्यवान् ब्रह्मचारी व अध्यापक होने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

'क्षत्रं वा अश्वः'—शत० १३।२।२।१५। वज्री वा अश्वः प्रजापतिः—शत० ३।८।४।२। इन्द्रो वा अश्वः कौ०–१५।४ इत्यादि के अनुसार अश्व का अर्थ क्षात्रबलसम्पन्न वज्रधारी इन्द्र वा राजा ही हो सकता है। इसलिये उव्वट, महीधर, ग्रिफिथ आदिकृत इनके अर्थ वेदों की पवित्र शिक्षा के विरुद्ध, असङ्गत और उपहासास्पद है। **महर्षि दयानन्द** ने इसका शिक्षादिपरक जो उत्तम अर्थ किया है वह सर्वथा उपादेय है।

●●●

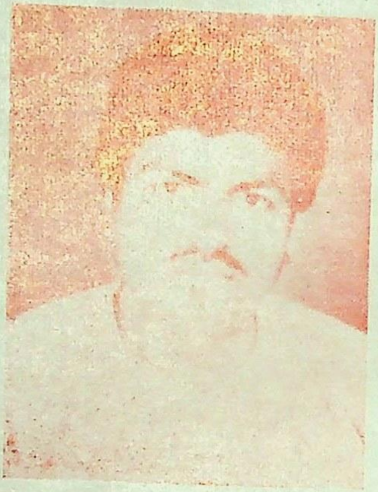

डॉ० मनुदेव बन

प्राध्यापक, वेद विभाग
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्
हरिद्वार ।

जन्म स्थान—ग्राम—पथरगामा
पोस्ट—पथरगामा, जिला गोड्डा
भागलपुर (बिहार)

जन्म तिथि—५-४-१९५८

पिता का नाम
श्री हीरालाल आर्य

वर्तमान निवास :—मधुसदन, आर्यनगर—कनखल रोड, निकट—आर्य वानप्रस्थ आश्रम, पोस्ट—ज्वालापुर, २४९४०७ हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)

उपाधियाँ :—व्याकरणाचार्य, गुरुकुल झज्जर (रोहतक)। शास्त्री—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय (वाराणसी)। साहित्यरत्न (प्रयाग)। सिद्धान्तशिरोमणि (दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय, यमुनानगर)। एम०ए० वेद, हिन्दी, संस्कृत (गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)। स्वर्णपदक (श्रीमद् दयानन्दार्ष-विद्यापीठ, गुरुकुल झज्जर, रोहतक)। पी-एच० डी० (गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)। लोअर प्राइमरी स्कूल, पथरगामा। माध्यमिक विद्यालय, पथरगामा।

अध्यापन :—गुरुकुल झज्जर, रोहतक (हरियाणा)। दयानन्द वेद विद्यालय ११९ गौतम नगर, दिल्ली—४९, वर्तमान में Lecturer in Ved Deptt. Gurukul Kangri University, Hardwar

लेखन तथा प्रकाशन :—मानवता की ओर, वेद-मन्थन, भाष्यकार-दयानन्द चरित्र निर्माण, वेदोऽखिलो धर्ममूलम् आदि पुस्तकें प्रकाशित। ६० से अधिक विभिन्न पत्रिकाओं में शोध लेख प्रकाशित।

...ार कार्य :—उत्तर प्रदेश, बिहार, दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा, पञ्जाब ... प्रान्तों में वेद तथा आर्यसमाज विषय पर व्याख्यान।